JAINADARSHANA SARA

A Work on Jaina Philosophy

By

Pandit CHAINSUKHDASS NYAYTIRTHA

PRINCIPAL

THE JAIN SANSKRIT COLLEGE JAIPUR
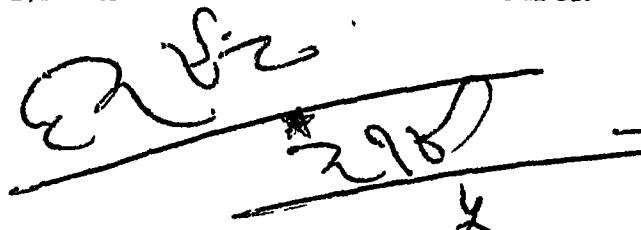
Edited with Introduction and Notes

By

C. S. MALLINATHAN

Translated in Hindi

By

Pt. M. C. Shastri, Nyaytirtha

Third Edition :

1000 COPY 1974 Price Rs. 4/-

स्व० नाथूलालजी वज (तोपखाना वाले) जयपुर का जन्म पौष वि स १९५९ मे हुआ और स्वर्गवास भाद्रपद शु० ९ विक्रम स० २०२५ को। स्वर्गवास से पूर्व २६ फरवरी ६९ को आपने नो हजार रुपये की राशिका एक दानपत्र लिखकर उसके ट्रस्टी श्री प० चैनसुखदासजी, श्री नाथूलालजी पोल्याका, श्री भवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, श्री भॅवरलालजी न्यायतीर्थ, श्री कोकलचदजी रारा को मनोनीत किये। आपके स्वर्गवास के पश्चात् ट्रस्ट पत्र के अनुसार ४०००) रु० श्री दि० जैन सस्कृत कालेज को तथा दो हजार रुपया श्री दि० जैन औषधालय को देकर अवशिष्ट राशि साहित्य प्रकाशन के लिए सुरक्षित रखी गई। प्रस्तुत पुस्तक जैन दर्शनसार हिन्दी अनुवाद सहित इसी ट्रस्ट से छपाई गई है। साधारण गृहस्थ होते हुए भी श्री वज साहब ने उपार्जित द्रव्य का जो सदुपयोग किया वह प्रशंसनीय है एवं अनुकरणीय है।

विषयानुक्रमः (Contents)

तृतीय संस्करण : दो शब्द

जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् श्रद्धेय गुरुवर्य स्व. पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ द्वारा रचित 'जैन दर्शनसार' का यह तृतीय सस्करण छपा है। पडितजी ने इस छोटे से ग्रंथ में जैन दर्शन के प्रमुख सभी सिद्धान्तों का सक्षिप्त और सरल रूप में विवेचन कर पुस्तक को बडी उपयोगी बनाया है। वे जैन दर्शन के तो अद्वितोय विद्वान् थे ही, इतर दर्शनो का भी तलस्पर्शी ज्ञान उन्हें था। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखो था। दर्शन, न्याय, सिद्धान्त, साहित्य, व्याकरण, काव्य आदि सभी विषयों मे वे पारंगत थे।

उनका जन्म मारवाड में 'भादवा' नामक ग्राम मे २२ जनवरी १८९९ मे हुआ। प्रारभिक शिक्षा ग्राम मे ही प्राप्त की। विशेष अध्ययन के लिए बनारस गये। वहा एक मेधावी छात्र रहे। स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस में उनने संस्कृत, दर्शन, साहित्य और न्याय का अध्ययन किया। न्यायतीर्थ परीक्षा पास कर सन् १९१९ में वापस आये और कुचामन विद्यालय में प्रधानाध्यापक बने। वहां पूरे एक युग तक सस्था का सचालन किया। सन् १९३१ में जयपुर दि० जैन सस्कृत कालेज के प्राचार्य होकर आये और तब से आजीवन २५ जनवरी सन् १९६९ तक इस पद पर कार्य करते रहे। २६ जनवरी १९६९ को आपका स्वर्गवास हुआ। इस तरह आजीवन ब्रह्मचारी रह कर सारा जीवन मां सरस्वती की उपासना में उनने व्यतीत किया।

आप हिन्दी व सस्कृत में गद्य और पद्य दोनों में ही रचनाएं करते थे। "भावना विवेक", "पावन प्रवाह" आदि संस्कृत के

स्वतत्र ग्रथो की आपने रचना की। "सयम-प्रकाश" जैसे विशाल ग्रंथ (१० भागो) का सम्पादन किया, "सक्षिप्त सर्वार्थ सिद्धि", "प्रवचन प्रकाश", "अर्हत्प्रवचन" आदि सग्रह ग्रथो को निवद्ध किया, कइयो के अनुवाद किये। कई पत्र पत्रिकाओ का सम्पादन किया। सन् १६४७ से तो जीवन पर्यन्त वरावर वीरवाणी पत्रिका का सम्पादन करते रहे और सम्पादकीय टिप्पणियो द्वारा मौलिक और प्रेरणाप्रद साहित्य प्रदान किया। इसके पूर्व "जैन दर्शन", जैन बन्धु आदि पत्रो का सम्पादन किया। आप पर सरस्वती का वरद हस्त था। आपकी योग्यता अद्भुत थी। आचार्य एव एम ए के छात्रो को आप वखूवी पढाते थे। कई शोध छात्रो को विषय की तैयारी आप कराते थे। घरेलू, सामाजिक कई झगडे आप निपटाते–देश व समाज मे व्याप्त वुराइयो का डटकर विरोध करते थे। विद्यार्थियो और असहायो के वे सव कुछ थे। इस तरह आप चहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। आपने यह 'जैन दर्शनसार' ग्रंथ रचकर एक वहुत वडी आवश्यकता की पूर्त्ति की है।

छात्रो की माग थी और आपने स्वय भी यह महसूस किया था कि 'जैन दर्शनसार' का हिन्दी अनुवाद हो जाय तो छात्रो को सहूलियत हो। द्वितीय सस्करण के समय यह चर्चा चली। कुछ पृष्ठो का मैंने अनुवाद भी किया, किन्तु पुस्तक छपाने की जल्दी थी–अनुवाद इतना जल्दी न हो सका, अत द्वितीय सस्करण जैसा का तैसा ही छपा और हिन्दी अनुवाद की वात भी योही रह गई। अब तृतीय सस्करण हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत है। अनुवादक है गुरुवर्य प० चैनसुखदासजी के प्रमुख शिष्य प० मिलापचन्दजी शास्त्री, न्यायतीर्थ। आप दर्शन के अच्छे विद्वान् और सफल प्रवक्ता है। यह अनुवाद सरल और सुगम्य है। इससे छात्रो को विषय के समझने मे जहा सहूलियत होगी,

वहा संस्कृतानभिज्ञ 'हिन्दीभापी' ज्ञानपिपासु एव स्वाध्याय प्रेमी बन्धुओं को भी जेन दर्शन के मुख्य मुख्य सिद्धान्तो की सरलता से जानकारी मिल सकेगी। अनुवादक महोदय धन्य-वादार्ह है। श्री मल्लिनाथन् की प्रस्तावना भी बडी महत्व की है-वह तथा पारिभाषिक एव क्लिष्ट शब्दो के नोट्स भी पूर्व सस्करण की तरह इसमे है ही।

प्रस्तुत तृतीय सस्करण है। इसके पूर्व सन् १९५० मे प्रथम एव सन् १९६५ मे द्वितीय संस्करण छप चुके है। श्री नाथूलाल बज ट्रस्ट की ओर से यह तृतीय सस्करण छपा है। स्व० श्री नाथूलालजो बज की श्रद्धेय प० चैनसुखदासजी पर बडी श्रद्धा थी। उन्ही के प्रेरणा से शिक्षा-संस्था, औपधालय एव साहित्य प्रकाशन हेतु श्री बजजी ने जो ट्रस्ट बनाया-उसके लिए हम उस दिवगत आत्मा के आभारी है।

प्रस्तुत संस्करण का प्रूफ पढने में श्री प० भवरलालजी पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य ने जो सहयोग प्रदान किया है-एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र है।

आशा है छात्र एव पाठकगण इससे लाभ उठावेगे।

मनिहारो का रास्ता,
जयपुर-३

भंवरलाल न्यायतीर्थ
१-७-७४

PREFACE
of
1st. Edition

The Jaina Darshana Sara is prescibed as a Text-Book for M. A. by the Rajputana (Raiasthan) University. I have great pleasure in editing this work which is written by my much esteemed and learned friend Pandit Chainsukhdas, Nyaytirtha, the Principal of the Jain Sanskrit College, Jaipur. He is well acquainted with all the Indian systems of Philosophy and as such he can, with a certain amount of authority, speak or write on any subject connected with them. I am conscious of my incapacity to edit the book But I have done it only as a labour of love and I hope the students may find the Introduction and the Notes to be of some help to them.

JAIPUR
I st February, 1950

C. S. Mallinathan.

Introduction*

Jaina Darshana or the Jaina religion was revealed to mankind, in this cycle of time, by twentyfour Tirthamkaras[1] or Jinas[2], who lived at long intervals of time. Lord Rishabha, the first Tirthamkara is mentioned in Srimad Bhagavatam as an incarnation of Vishnu. This incarnation took place long long before Vamana Avatara. Shri Rama lived in the time of the twentieth Tirthamkara Shri Munisuvrata and Shri Krishna was a cousin of Shri Neminatha the twenty second Jina. Shri Parsva Natha, the 23rd Tirthamkara lived about 250 years before Lord Mahavira, the Last and the 24th Tirthamkara, who flourished in Magadha from 599 B. C. to 527 B. C. Mahavira was an elder contemporary of Lord Buddha. From the Buddhistic

---

*In writing this Introduction I have drawn much matter from the articles on the different subjects relating to Jainism contributed by Prof. A. Chakravarti to The Jaina Gazette during the years 1921 to 1923.

1. A Tirthamkara is one who makes a Tirtha (sacred path) by which the mundane souls can cross the ocean of Samsara and reach the Heaven of Eternal Bliss

2. A Jina is one who conquers the enemies (karmas) of his Self and attains complete freedom

texts we learn that Buddha himself was for some time a naked Jaina Saint practising the rules of conduct of a Jaina Ascetic, such as lying down on the bare ground, fasting and taking food from the palms of his hand. In course of time he found it difficult to practise these rules and so he began to adopt and preach the middle path (Maddhyama Marg) midway between the extreme ascetic life of the Jainas and the moral laxity of the other ascetic orders. This is clearly indicated by his own description of his early ascetic life as narrated to his disciple Sariputta. From this we find that Jainism was already existing in the time of Buddha. There are references to Lord Rishabha in the Vedic hymns, and Puranas of the Hindus. And so it can be safely said that Jainism is at least as old as the Vedic Religion.

The teachings of Jainism can be studied under the following heads:—

Universe.

According to Jainism the Universe is existing from eternity though undergoing modifications. It is composed of six Dravyas or Substances namely, Souls, Matter, Dharma (Principle of motion), Adharma (Principle of rest), Space and Time. Of these six Dravyas souls are sentient. We shall consider the characteristics of soul subsequently.

Matter (pudgala) has shape and possesses touch, taste, smell and colour. It is of two kinds, Skandhas (molecules) and Paramanus (primary atoms). Molecu'e has all the pl ysical qualities without any exception. Primary atom is the indestructible material basis of the world. The primary atom is eternal, non-sounding, occupying one space-point and of corporeal form. Lharma (Principle of motion) assists the movement of moving jivas and pudgala as water helps the moving fish. Adharma (Principle of rest) assists the resting of jivas and pudgala which are at rest in the same way as shadow helps the resting of travellers. Both Dharma and Adharma are eternal without form, without activity, non-living and coextensive with the world space. How are we to believe in the existence of Dharma and Adharma, the principles of motion and rest? We see around us things moving, coming to rest, again moving and so on. There must be some media to help the moving and resting of things. If there were no medium of motion (Dharma) all things in the universe will be at a standstill. There will be universal cosmic paralysis. If there were no medium of rest (Adharma), the atoms constituting the world will be scattered and flying about in the space and instead of Cosmos there will be only chaos. Hence the existence of these two Dravyas (substance) is postulated. Akasa or Space is

eternal pervasive, formless and gives room to all the other Dravyas to exist in it The Space which is co-extensive with the world is called Lokakasa (world-space) and that which is beyond is Alokakasa (non-world space) which is infinite, pure space. Kala or Time from the ordinary point of view is that which helps to produce changes in substances and which is known from modifications produced in substances, while real Time is eternal and is the basis of change

All these six, Soul, Matter, Dharma, Adharma, Space and Time are called Dravyas. The term Dravya denotes that which has a permanent substantiality which manifests through change of appearing and disappearing, Utpada (appearance), Vyaya (disappearance) and Dhrouya (permanency). Excepting Time the other five substances are called astikayas as they have extension or Bahupradesha. But Time has no such extension since it is unilateral. The universe is constituted by the six Dravyas which are uncreated and are existing from eternity.

Soul.

Jiva or Atma or Soul is the central theme in the Jaina System. There are infinite souls in the Universe and they were existing in the past, are existing now, and will continue to exist in the future. They were

not created at any time. All the souls are equal as regards their intrinic nature. Every Jiva is potentially divine but its divinity is obscured and obstructed because of its association with karmas. When the Karmas are removed, the soul will shine in all its glory and attain Godhood. The following characteristics of Jiva are to be noted. It has life, consciousness upayoga (perception and knowledge), is potent, performs actions, is affected by their results, is conditioned by its own body, is incorporeal and is ordinarily found with karma.

1. Jiva lives with four pranas Indriya (5 senses) Bala (3 forces of body, speech and mind), Ayuh (duration of life) and Uchvasa (respiration).

2. It has consciousness i. e. the ordinary finite consciousness which is associated with will and emotion viz. acting and enjoying.

3 Upayoga is the manifestation of chetana in the act of understanding. Jnana and Darshana (knowledge and perception) are the two kinds of Upayoga.

4. It has the capacity to assume different states of existences in the mundane world. Every Jiva is the architect of his own life.

5. It is the doer of its own karmas.

6. It is the enjoyer of the fruits of *its* own karmas.

7. It is of the same *size* as the body it occupies.

8. It is incorporeal being spiritual by nature.

9 During his mundane existence he is always associated with karmas.

Samsari Jivas (mundane souls) are of two kinds, Sthavara (fixed) and Trasa (moving). Jivas living in earth, water, air, fire and plants have the sense of touch only. Worms, oysters, conches etc., have two senses, touch and taste. Ants, bugs, lice etc., have three senses, touch, taste and smell. Flies, bees, mosquitoes possess four senses, touch, taste, smell and sight. Men, birds, animals possess five senses viz. touch, taste, smell, sight and hearing. But men have well developed consciousness and hence they are called five sensed beings with mind. The Jaina conception that Jivas are potentially divine and are found in different states of existence is echoed in the following lines of the Sufi Mystic.

> "God sleeps in the minerals
> Dreams in the vegetables
> Wakes to consciousness in animals
> To self consciousness in man
> And to God consciousness in Man made perfect."

Karmas

The Jaina conception of karmas is a very important and significant contribution to Metaphysics. The state of attachment and eversion is called Bhava Karma, while the karmic matter attracted towards the soul by virtue of such state is called Dravya Karmas. The Jainas believe that there are very subtle particles of matter called Karmic varganas in the world-space which bind the soul whenever it does a deed due to passions of Anger, Pride, Deceipt and Greed. These Karmic particles bind one's soul whether one actually does the deed, induces others to do the deed or approves of the deed done by others.

These Karmas are of eight kinds—

1. Jnanavaraniya which obscures the knowledge.

2. Darshanavaraniya which obscures the perception.

3. Mohaniya infatuates the soul and interferes with its self-realisation and self-absorption.

4, Antaraya throws obstacles to the performances of deeds such as giving charity, getting profit etc.

5. Vedaniya causes plearsure and pain.

6. Nama determines the body, the state of existence etc., in which the soul is to be born.

7. Ayuh prescribes the duration of life that a soul has to live in a paticular state of existence.

8. Gotra determines the birth of a soul in a higher or lower social status.

These karmas constitute the karmic body which is associated with the soul throughout its career of transmigration producing its appropriate results till it is finally cast away and destroyed when the soul attains perfection or Moksha.

God and Moksha

When the soul is free from all karmas it becomes pure and attains full divinity or Godhood. He becomes Paramatma devoid of all blemishes and free from birth and death. He has infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite bliss. He can not be perceived by the senses and He is said to reside at the summit of the Universe This dogmatical assertion is strengthened by the way in which the people talk of God They always refer to Him as, "One who is above" pointing to the sky. He has nothing to do with the world and He is only an Ideal for the other jivas to aspire to He is also called by the name of Siddha, one who has accomplished Attainment of the soul's perfection is the attainment of Moksha. This is the conception of God or Paramatma according to Jainism. Though Jainism and Shankara agree in maintaining the ultimate identity of Jivatma and Paramatma, yet the Jaina ideal of Parmatma with infinite qualities will be

found to differ from Shankara's ideal of Nirguna Brahman. But Ramanuja is one with the Jaina system in his conception of God with infinite qualities. There is no coming back of the Paramatma (Liberated Soul) to the mundane world again because a Perfect Being cannot become imperfect and hence the theory of Avatar according to which God is said to be born in flesh and blood is not accepted by the Jainas. Existence in Moksha or Nirvana has a begining but no end, whereas the mundane existence of the imperfect soul has no beginning but can have an end.

Moksha Marga : The Way to Liberation

The way to Moksha is said to consist of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct. Right Faith is the undoubted faith in the nature of the seven Tattvas which are 1, Soul, 2. Non-soul, 3. Asrava (the way by which karmas flow into the soul), 4. Bandha (bondage of the soul with karmas), 5. Samvara (stopping of the inflow of the karmas), 6. Nirjara (the destruction of karmas) and 7. Moksha (freedom from all karmas). Right knowledge is the correct understanding of the nature of these Tattvas and Right Conduct is defined as living according to the rules of conduct laid down in the sacred books. The rules of conduct are of two kinds, (1) those prescirbed for the laymen and (2) those prescribed for the ascetics.

Jaina Logic

The Jaina Darshana is preeminently a system based on Logic. No statement, from whatever source it might come, will be accepted by a seeker after Truth unless it is tested on the touch-stone of Logic. The author of this book examines Jaina Logic under the following heads, Lakshana, Pramana, Naya, Saptabhangi, and Nikshepa.

In between the sections dealing on Saptabhangi and Nikshepa, he has introduced two sections on Ahimsa and on Caste, evidently to show that, as Saptabhangi emphasises the equality of all dharmas, Ahimsa emphasises the equality of all Jivas and Caste emphasises the equality of all castes and the brotherhood of all mankind.

I. Lakshana is defined as the differentiating characteristic of a substance.

II. Pramana is Proof or authority. It is of two kinds, Pratyaksha Pramana (direct apprehension of reality) and Paroksha Pramana (indirect apprehension of reality). The five kinds of knowledge, Mati, Sruta, Avadhi, Manah-paryaya and Kevala are said to be Pramanas. Of these Mati Jnana (knowledge obtained through sense perception and memory) and Sruta Jnana (knowledge obtained through books, signs, pictures etc.) form Paroksha Pramana Avadhi Jnana

(clairvoyant knowledge of things and events in distant places and in distant times, either past or future), Manah-Paryaya (telepathic knowledge which enables one to read the minds of others) and Kevala Jnana (Omniscient knowledge) form Pratyaksha Pramana.

III. Naya is a means of understandig reality from a particular point of view. There are seven different Nayas:—

1. Naigama-Naya. Any part of a series of qualities or actions is taken to represent the whole. A man is seen packing things and when asked, "What are you doing ?", he replies, "I am going to Delhi". He is not actually going then but it is the purpose for which he is packing the things.

2. Samgraha-Naya is the class view. The name *rose* refers to the whole class of flowers known by that name.

3. Vyavahara-Naya is to study things under the several species constituting a genus. e. g. studying the six dravyas separately.

4. Rijusutra-Naya is to study the nature of a thing at the present mathematical moment e. g. "It is very cold now."

5. Shabda-Naya refers to the use of words having different meanings due to differences in gender number,

etc., used to indicate one and the same object e. g. the words, dara (masculine), bharya (feminine) and kalatra (neuter) having different meanings due to differences in gender refer to wife.

6. Samabhirudh-Naya refers to synonyms which though interpreted may refer to the same identical thing. It is the differentiation of terms according to their roots e. g. the terms 'Indra', 'Shakra' and 'Purandara' imply respectively 'the prosperous' 'the powerful' and 'the destroyer of the cities of enemies' but refer to one and the same person.

7. Evambhuta-Naya refers to a particular action or capacity of a thing, at the time of speaking e.g. the term 'gau' (cow) means an animal in motion when the cow is actually going at that time.

Of these seven Nayas, the first four are called Artha Nayas as they deal with objects of knowledge and the remaining three are called Shabda Nayas in as much as they are concerned with the terms and their meanings. According to another classification the first three come under Dravya Naya (the substantive aspect) and the other four come under Paryaya Naya (the aspect of change or modification).

IV. Syadvada or Saptabhangi (seven modes of predication) is the crown of Jaina Logic. The Jainas understood the complex nature of reality The truth

of the reality cannot be understood unless it is studied in various aspects. Every object can be spoken of both in the affirmative and the nagative. How can we make two contradictory statements both true of an object ? The answer is the nature of the object is such. As a thing has several assertions and relations several predications are necessary. Is this idol made of marble or white clay ? If it is the one, it is not the other. Was Alexander a Greek or a Roman ? He was a Greek and not a Raman. These statements exhibit the possibility of predicating affirmation and negation of the same thing. Is and is not can significantly refer to the same object. But the point of view is different in each case. When a subject has two predicates, no one predicate alone can monopolise the subject to itself. The aspect left out by this predicate can very well be expressed by the other predicates No predicate can be absolutely true excluding other predications about a particular subject; hence the necessity for qualified assertions about any object. These qualified or conditional assertions are primarily two, affirmation and negation.

1. In some respects X is.
2. In some respects X is not.

As these two aspects are found inherent in the same thing, we can say—

3. In some respects X is and in some other respects X is not.

In this proposition we are speaking of a thing in its two aspects which are inherent in and expressive of the thing. As there is no predicate which can express these two aspects conjointly, we are unable to describe the thing. This fact is expressed in the fourth mode of predication—

4. In some respects X is indescribable.

We may qualify this proposition by each of the first three predicates. Then we will have the last three modes of predication which are—

5. In some respects X is, though indescribable.
6. In some respects X is not, though indescribable.
7. In some respects X is and in some other respects X is not though indescribable.

In Sanskrit these seven modes of predication are called—

1. Syadasti
2. Syannasti
3. Syadastinasti Cha
4. Syadavaktavya
5. Syadasti avaktavya
6. Syannasti avaktavya
7 Syadastinasti avaktavya

These seven modes of predication are usually illustrated with reference to some object such as a Jar or *Ghata*. Whether it should have an affirmative predicate or negative one depends respectively on two groups of four aspects:-Svarupa (its own form), Svadravya (its own matter), Svakshetra (its own place) and Svakala (its own time), leading to affirmation and Pararupa (alien form), Paradravya (alien matter), Para kshetra (alien place) and Parakala (alien time) bringing in negation to the jar.

1. Now what is its own form, Svarupa? The word jar invariably implies certain definite attributes of a particular object designated by the term. These essential attributes connoted by the term jar will be its Svarupa. The attributes of any other object implied by any other term will be its Pararupa, alien to the jar. If existence is predicated of the Jar both from its own form as well as from that of an alien thing like cloth (pata) then the Jar will lose its distinctive character and become one with the cloth. If on the other hand non-existence is predicated from its own form as from alien nature then there will be no Jar at all. Neither of these results stands to reason.

2. What is its own matter, Svadravya? Clay is its own matter and gold is alien matter. The Jar is made

of clay and it is not made of gold

3. What is its own place or Svakshetra ? The ground where the Jar is found is its own place Svakshetra and every other place is its Parakshetra.

4. What is its own time or Svakala ? The Svakala of the Jar is the duration of the time in which it exists intact Its past when it was a mass of clay and its future when it will be a heap of broken shells will be its Parakala.

Thus a thing is affirmed in its four-fold self-relation, form, matter, place and time and is denied in its four-fold alien relation.

Now the Svarupa etc, are determined with reference to the four-fold other relation of Pararupa etc, The self-relation apart from the other relation has no meaning The essential nature of a thing not only implies its Svarupa but differentiates it from Pararupa In experience we not only perceive a thing but perceive it as distinct from other things. A Jar is seen not merely as a Jar but as a thing distinct from a cloth lying by its side. Without this distinction there can be no perception of the Jar at all. The very process of self-assertion implies differentiation from non-self. ***Asti*** implies self-assertion. ***Nasti*** implies alien exclusion. A thing not only asserts its own individuality, but also discards anything alien

to it. It is this element of discarding that everything must have in order to be real that entitles it to have the negative predicate. Instead of leading to a confusion this element of differentiation is the only basis for self-assertion of a thing. *Asti* and *Nasti*, assertion and exclusion, are inalienably present in the same thing. Wherever there is *Asti*, there is *Nasti* and wherever there is *Nasti* there is *Asti* also.

The primary modes of predication are three, Syadasti, Syannasti and Syadavaktavya The other four are obtained by combining these three.

Now according to the Samkhya philosphy everything is real and therefore exists. According to Buddhism everything is momentary and unreal. Both these views are rejected by the Jainas as extremes. The former is true according to the principle of Dravyarthika Naya whilet he latter is true according to Paryayarthika Naya. Hence each is true in its own way and is not true absolutely. Again reality is indescribable according to the Vedantins who emphasise the *anirvachaniya* aspect of reality Even this is only partially true, for otherwise even this predication, that reality is indescribable will be impossible.

The same seven modes of predication may be obtained in the case of the following pairs of attributes, eternal and changing, one and many, universal and particular etc. These pairs of opposites can very well

be predicated of reality and these may yield the other derivative modes of predication. Thus practically every attribute by being affirmed and denied according to different aspects may bring about seven fundamental propositions true of the real subject.

V Nikshepa is the consideration of a thing in four aspects, Nama, Sthapana, Dravya and Bhava

Nama Nikshepa—Giving a name to a thing which does not possess the qualities connoted by the name e. g. to call a person Bhimasena even though he may be very weak in body and cowardly at heart.

Sthapana Nikshepe—Representing a thing by an image, picture or symbol.

Dravya Nikshepa—Attributing a name to an object which does not possess the qualities connoted by the name now, but which possessed them in the past or might possess them in the future e. g. to call a retired Commander as Commander or to call the Crown prince as King.

Bhava Nikshepa.—Giving a thing a name connoting the attributes possessed by the object at present e. g. soldier considered as such when he is actually fighting.

Jainism and the other Indian Darshanas

According to Jainism Jiva is established as a real entity. But the Charvakas do not accept this as they recognise no proof except Pratyaksha which is

based on the senses. In Nyaya Philosophy the identity of a quality and the possessor of that quality is never recognised, but in the Jaina system Jnana and Darshana are not only the qualities of Jiva, but are identical with it The Jaina view that Jiva is formless is contrary to the views held by Kumarila Bhatta and also of Charvaka who does not recognise anything that cannot be perceived by the senses. According to the Samkhya philosophy, the Purusha (corresponding to the Jiva of the Jainas) is always udasina inactive and is only a passive spectator but in the Jaina system the Jiva is an active agent. The Samkhya system which is Nirishvara (Godless) is similar to Jainism & Buddhism in their opposition to the Vedic sacrifices. The Jaina view that Jiva is Bhokta (enjoyer) refutes the doctrine of the Buddhist philosophy that an agent does never enjoy the fruits of Karmas. The doctrine that the Jiva is co-extensive with the body it occupies, refutes the views of the Nyaya, Mimamsa and Samkhya systems. The Jaina view that the Jiva is in Samsara refutes Sadashiv, that it is Siddha refutes Bhatta and Charvaka and that it has an upward motion refutes the view of all other philosophers Samsara for the Vedantin is the manifestation of a single self Brahman and Moksha is the merging of the self in the Absolute and thus losing its individuality. For the Jainas infinite number of Jivas, each having its own paryayas, constitute the Samsara. The Jaina conception of Moksha

according to which the Jiva becomes pure and perfect and does not lose its *Satbhava*, substantial reality, is contrary to the Buddhist view of Nirvana as the annihilation of the self. The atomic structure of the universe is accepted not only by the Jainas but also by the Nyava and the Vaisheshika schools.

Jainism and Western Thought.

Jainism is a dynamic realism and it will be interesting to note that some of its doctrines are similar to the views held by the philosophers in the west, especially those belonging to the Realistic School. The Jaina conception of Dravya, Guna and Paryaya (substance, qualities and modifications) is approximately similar to Spinoza's view of substance, attributes and modes Spinoza uses the term "attribute" with a technical meaning but in Jaina metaphysics it means qualities. Hegel had a conception of reality similar to the Jaina conception of Dravya, Satta and Dravya are one and the same as Hegel maintained. Thing-in-itself and experience are not absolutely distinct. Dravyas refer to facts of experience and Satta refers to existence or reality. The French philosopher Bergson also recognised substance as a permanent thing existing through change. Darshana and Jnana (perception and knowledge) may be said to be analogous to Kant's conception of sensibility and understanding. Space and Time are real entities according to Jainism. Time helps to produce changes in substances.. Bergson

regards Time as the instrument of creative evolution. The European mathematicians Cantor, Peano and Frege have accepted the reality of Space and Time. The English Philosopher and Realist Bertrand Russell is also of the opinion that Time is a reality and not a form of experience. The Jainas say that Time is urdhva-pra chaya, unilateral and in the language of mathematical philosophy Time is mono-dimentional. To sum up the modern realists admit the doctrines that Time is real and is made up of instants or moments, Space is real and is made up of points and the physical world is real and is made up of atoms. Again, Hegel's assertion that affirmation and negation are identical, is similar to the predications of *Asti* and *Nasti* Saptabhangi.

Jainism and Modern Science.

If a student of science were to read the Jaina metaphysics he would be surprised to note that several of the modern scientific notions and discoveries were already khown to the Jaina philosophers who lived centuries before the Christian era. The eternity of the universe, the indestructibilty of matter, the conception of the ultimate atom and the realities of Space and Time are all facts recognised by modern science. The Jaina idea of sukshma-ekendriya Jivas, subtle-one-sensed beings corresponds to the scientific view of microscopic organisms. The analysis of sense qualities is as minute as that of modern psychology and the division

of cutaneous sensation into eight varieties is in keeping with modern scientific achievement. That plants live, take and assimilate food, breathe and are amenable to the sense of touch are now proved and scientifically established by the great Indian scientist Dr. Bose. Sound is not a product of Akasa but is produced only when molecules strike against one another. This view is held by the modern science also. The function of Adharma Dravya corresponds to Newton's theory of gravitation and Newton's distinction between relative and absolute time is also similar to the Jaina view. Like the Jainas the European Mathematicians also accept the reality of Time and Space

Jainism and Ahimsa

Ahimsa is the corner stone of Jaina Ethics. Ahimsa is the negation of Himsa. What is Himsa? Srimad Umaswami says प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा Hurting any of the vitalities of a living being through the passions of anger, pride, deceipt and greed is Himsa or injury When we harbour an evil thought against any living being, we first commit himsa to ourselves. When we speak a harsh word or do a cruel deed we do injury to others and to ourselves also. The greatest help that we can easily do to other lives is not to hurt them or kill them, since no living being desires pain or death. All the living beings are intrinsically equal and are sacred in as much as every one of them however minute it might be is potentially divine. In this con-

nection an incident in the life of Gibbon, the greatest historian of "The Rise and Fall of the Roman Empire" is worth noting here. One of his friends took him one day to see St. Paul's Cathedral. The friend showed Gibbon every portion of the building, its beauty and grandeur Gibbon was greatly pleased to see the wonderful architecture. While coming down from the building they both sat for a while on a step to take rest. The friend asked Gibbon, "How do you like this temple of God ? Is it not magnificent ?". The great historian replied, "Magnificent indeed but in no way more magnificent than this temple of God (pointing to an ant that was crawling on the step near their feet) in which He lives, breathes and moves". All the great men of the world and all the great religions uphold the divinity of Soul. When this divinity is developed in a soul it gains a mysterious spiritual power which makes the surroundings calm and peaceful. Even wild animals forget their cruel nature and lie down before him as tame animals The lives of Saint Francis of Assisi and of Abdulla Hala of Bagdad give us very enteresting information as to how animals and birds, both wild as well as mild, iresponded to their calls and obeyed them The saints addressed the animals and birds as "Brothers and Sisters" and treated them with love.

Man has no right to cut short the life of a creature and thus retard its spiritual progress. Every soul is born

according to its own karmas and it must be allowed to work out its own salvation. If possible we can help other living beings but in no way hinder them. Man is under the impression that he is the lord of the creation and hence does not hesitate to destroy life indiscriminately. Himsa is generally committed for the following purposes 1 For the sake of food, 2. For sport or fun. 3, For fashion, 4 For propitiating deities.

1. Killing for the sake of food The structure of the body of man, his teeth and his digestive organs clearly show that man is a frugivorous animal and not a carnivorous one. Even from the point of view of health, vigour, strength and power of endurance the vegetarian diet is considered to be far superior to meat diet. So killing for the sake of food is unnecessary and unwarranted.

2. Killing for sport or fun : Some people take delight in shooting not only wild animals but also harmless and innocent animals and birds. If the hunters imagine themselves to be in the place of the hunted ones and reflect seriously on what they are doing they will come to know the miserable condition of the innocent victims. There are several instances of people who, on seeing the agony of the animals they had shot had to shed tears and swear not to hurt any more any living being nor to taste flesh diet. The lives of the Duchess of Hamilton of England and of Thoreau of America may be read for further elucidation on the point

3. Killing for the sake of fashion: Nowadays it has become a common thing to see in almost every town people using purses made of calf's skin, shoes and belts made of cobra skins, fountain pen holders made of lizard skins and ladies adorning themselves with feathers and seal-skins. Is this really a mark of civilisation? The aboriginal tribes living in jungles also take delight in wearing skins and feathers. Why we call them as barbarians and ourselves as civilised people.

4. Killing in order to propitiate deities: There is a belief among certain people that some gods and goddesses are fond of sacrifices of animals such as goats, buffaloes, pigs, fowls etc. This belief is due to time-honoured superstition and fear. This kind of sacrifice is generally offered by low class people. They are tempted to offer the sacrifice in the hope that no calamity might occur in the future, that a thanks-offering should be given in return for getting a son or some fortune, and that any of their near and dear relations suffering from epidemics like cholera, small-pox etc. may be cured. Fortune or misfortune, children or no children, calamity or no calamity are entirely due to one's own karmas. Diseases are entirely due to unhealthy surroundings, unclean habits, careless and unhygienic way of living of the people. There is no meaning in attributing these to gods and goddesses and kill innocent and helpless animals and birds.

We also commit himsa 1. intentionally, 2. in doing

our household duties, 3 in carrying on our profession and 4 in fighting our enemies. The layman or the house holder is prohibited from doing any 'Himsa' with a deliberate intention The other three kinds of 'Himsa' must be as less as possible. The ascetics should abstain from all kinds of Himsa.

It is said that the Jainas have carried the doctrine of Ahimsa to its logical conclusion and hence it is not possible to practise it. This is only a mis-conception. Nothing is difficult for a man if he has only the will to do it. Mahatma Gandhi, the greatest personality of this age is the most prominent proof of the possibility of practising Ahimsa as taught by Jainism and that too with wonderful success.

In order to make the practice of Ahimsa easy the Jaina Scriptures enjoin that the follower of Ahimsa should hove control of speech, control of mind, carefulness in walking, care in lifting up and laying down things and should thoroughly examine his food and drink before taking them. Also he should avoid tying up, beating, mutilating or overloading animals or human beings and withholding food or drink from them due to anger or carelessness. Buddhism also preaches Ahimsa but its followers have taken to flesh eating for some reason or other. Unlike the Buddhists, the Jainas hold an uncompromising attitude. No Jaina allowed to take flesh or commit Himsa for any reason.

Some people argue that the killing of animals and birds is necessary in order to check their increase in number so that they may not be a menace to us. This is only a fanciful excuse. We need not worry ourselves regarding the increase of animals and birds. There is what is called the Balance of Nature working always. Every man is expected to live as harmlessly as possible helping those around him according to his means and power, and be a friend of all and enemy of none.

Jainism and the Caste System

The caste system based on birth is peculiar to India. It is a positive hindrance to the progrese of the human society. Hinduism recognises four castes based on birth namely Brahmin (priest), Kshatriya (warrior), Viashya (merchant) and Shudra (servant). Jainism does not recognise any of these castes as based on birth. In Jaina books these words are used only to show the professions which these people follow. All men are equal by birth. They differ only as regards the avocations they follow. A chandala or Harijan, if he is a follower of Ahimsa and has right faith in the doctrines of Jainism is far superior to a deva who has no faith. Every person is at liberty to follow any profession he likes or is fit to take up provided it is free from Himsa. It is no exaggeration to say that Mahatma Gandhi has given a death-blow to the caste system in India by rousing up the consciousness of the depressed people, by appealing to the enlightened members of the society

and by actually living in the midst of Harijans and working for their welfare and amelioration. According to Jainism a Samyakdrishti or right believer should be free from the pride of caste.

Is Jainism a Nastika System ?

Jainism, Buddhism and Charvaka System are said to be non-Vedic systems, as they do not accept the authority of the Vedas. For that reason they are also dubbed as nastika schools of thought. This is only a misnomer. According to an accepted definition, a nastika system is one which does not believe in Atma, Moksha and Moksha-Marga. If this criterion is adopted then the Charvaka alone will come under this classification. One who studies Jainism and the other Indian systems will see an important underlying common ground between these systems. It can be said that, the creation theory, as known to the Semitic religoins, is not accepted by any of the Indian systems of philosophy. Kapila the propounder of the Samkhya system openly ridicules the creation theory and contends that it is quite impossible and untenable as a metaphysical doctrine. Patanjali (Yoga) speaks of an Ishwara who is not a creator but who is only a moral ideal for the other purushas. Vedantism does not recoginise the doctrine of creation. Sankara completely throws overboard the Vedic account of creation as purely a *vyavaharic* fiction. Mimamsa similarly rejects the doctrine and does not recognise any creator

or the possibility of creation. The strongest and the most logical condemnation of the creatian theory is found in the Mimansa system which is perhaps the most orthodox of the Hindu Darshanas in as much as it emphasises the authority of the Vedas to be supreme. The Vedas according to them is eternal and *apaurusheya* The only Vedic Darshanas which prima *facie* appear to recognise the doctrine of creation are the Nyaya and the Vaisheshika schools. Even according to them the ultimate principles of souls and atoms are considered to be eternal and uncreated. The work of the Creator is merely to build up the bodies for the jivas or souls according to their merits or demerits. The Jaina view does not amount to anything more than what is already contained in the Vedic Darshanas. If Jaina Darshana is condemned as nastika for the simple reason of rejecting the doctrine of creation, then the title would be applicable to every Hindu Vedic Darshana with equal Justification.

Jainism as a solution to some modern problems.

Social inequality and economic distress are the two great problems that agitate the minds of our leaders now. Social inequality based on birth or financial status and economic distress due to insufficiency of food, clothing, shelter; and funds to meet other domestic functions are the reason for the, mass unrest and rebellion. Can the principles of Jainism offer any solu-

tion to solve the difficulties ? Yes It has enjoined its followers to practise the following twelve vratas or vows:

1. Ahimsa–Abstinence from injury.
2. Satya–Truthfulness.
3. Asteya–Abstinence from stealing.
4 Brahmacharya–Chastity.
5. Parigraha parimana–Limiting the possession
6. Digvrata–Taking a life-long vow to limit worldly activity upto certain boundaries in all the ten directions
7. Deshavrata–Taking a vow to limit worldly activity for a shorter period of time.
8. Anarthadanda vrata–Taking a vow not to commit sins like speaking ill of others, preaching of sinful deeds, giving objects of offence reading or hearing bad books.
9. Samayika–Contemplating on the self at fixed hours every day.
10, Proshadhopavasa–Fasting on four days in a month, on the 8th and the 14th of the bright half and the dark half of every month.
11. Bhoga Upabhoga-parimana—Limiting the use of things which can be enjoyed only once like food, drink etc, and of things which can be enjoyed again and again such as dress, cushion, umbrella etc.
12. Atithi-samvibhaga.—Taking a vow to feed an ascetic, a righteous house-holder or an afflicted,

poor and hungry person before taking his food.

Of these twelve vows we shall study the numbers 1,5,6, and 7 which are relevant for our purpose.

Ahimsa : This is based on the fact that all lives are sacred and all have a right to live and march on the path of evolution. All men are equal to whichever country, race, colour or creed they might belong There can be no social inequality and no inferiority or superiority complex among them. Through Ahimsa, Mahatma Gandhi has not only gained political freedom for the country but he has gone a great way to get the social inequality removed.

Parigraha-parimana : Jainism teaches that every man should have a limit for his possessions. As a necessary corollary it follows that he should fix a limit for the acquisition of his wealth. After reaching that limit he should retire and give room for others to earn. For example if a lawyer retires from his proffession after acquiring the wealth which he has fixed for himself, he will be creating chances to his juniors to take his place and earn. Similarly the business people also should do. If people understand the significance of this vow and follow it closely, the unequal distribution of wealth can be gradually removed. According to the Jaina Ethics it is said that too much of worldly activity and too much of attachment for worldly things will lead a soul to hell.

Digvrata and Deshavrata: Limiting one's activities in all directions for the whole life time and limiting one's activities within certain boundaries for a limited time

These are not merely religious vows They are of much economical importance A person who practises these vows has to depend upon things of his own place or village or limited area. He cannot send for things from outside, nor send out things from his place. He has to depend upon his own people. In a village if the majority of the people begin to practise this vow, the village, out of necessity, has to become a self-supporting unit and the people would feel self-contented and self-sufficient. The advice of Mahatma Gandhi to boycot foreign goods was perhaps based upon this vow, fully conversant of Jaina vows, as he was.

This is not a difficult vow to practise. Even to day we find in South India some villages where the Jainas depend entirely on their own village products and manufactured things.

It is further enjoined that the gift of food, of medicines, of learning, and of protection should be given to the deserving and to the needy. If these vows are strictly followed on a wide scale without any transgressions, social inequality and economic distress will soon vanish and all people will have enough food, clothing, shelter and comfort.

JAINAM' JAYATU SHASANAM

जैनदर्शनसारः

प्रथमोऽध्यायः

॥ मङ्गलम् ॥

श्रीमंतं सन्मतिं सिद्धं नत्वा सद्गतिदायकम् ।
जैनदर्शनसाराख्यं निबंधमभिदध्महे ॥

ग्रन्थ–संगतिः

आत्मन. परमहितप्रतिपादनं जैनदर्शनस्य प्रयोजन । तस्य परमहितं तु मोक्षः ।,स एव परमपुरुषार्थ. । मोक्षस्तु आत्यंतिकाऽव्याबाधसुखस्वरूपः । स तु न केवलाज्ज्ञानान्नापि ज्ञाननिरपेक्षाच्चारित्रान्नापि एतद्द्वयानपेक्षाद् दर्शनादपि तु समुदितैरेभि·

हिन्दी अनुवाद

जो श्री लक्ष्मी अनन्त चतुष्टय (ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य) रूप अन्तरंग लक्ष्मी तथा समवसरणादि रूप बाह्य लक्ष्मी से सयुक्त हैं, जो सिद्धावस्था या स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त हो चुके हैं। जो श्रेष्ठ ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान तथा सद्गति अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। ऐसे महावीर भगवान को नमस्कार करके जैनदर्शनसार नामक निबन्ध को कहता हूँ।

जैन दर्शन का प्रयोजन आत्मा के परमहित का प्रतिपादन करना है। आत्मा का परमहित मोक्ष–निर्वाण है। वह ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष परमोत्कृष्ट निराबाध सुखस्वरूप है। वह मोक्ष न तो केवलज्ञान से, न ज्ञान रहित चारित्र से और न ज्ञान व चारित्र रहित दर्शन से भी प्राप्त होता है, वह तो सम्यक्त्व विशिष्ट इन तीनों के समुदाय से प्राप्त होता है। तत्त्वार्थ-

त्रिभिः सम्यक्त्वविशिष्टै प्राप्यते। तथात्रोक्त तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग १।१"

सम्यग्दर्शन हि आत्मेतरविवेकरूप। आत्मेतरविवेकस्तु तत्त्वार्थश्रद्धानात् समुपलभ्यते। तत्त्वार्थश्च जीवाजीवास्रव बध-सवर-निर्जरा-मोक्षाख्या सप्त। जीवश्चेतनालक्षणोऽजीवस्तद्विपरीत। पुण्यपापागमद्वाररूप आस्रव। आत्मकर्मणोरन्योन्य-प्रदेशानुप्रवेशात्मको बध। आस्रवनिरोधलक्षण सवर। कर्मैक-देशसक्षयात्मिका निर्जरा। कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्ष।

जीवतत्त्वविवेचनम्

जीवति प्राणिति चतुर्भिरिन्द्रियबलायु श्वासोच्छ्वासाख्यै: प्राणैर्व्यवहारेण, निश्चयनयेन तु स्वचेतनात्मकस्वभावेन, स

धिगम मोक्षशास्त्र नामक ग्रंथ मे कहा गया है कि—सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकता ही मोक्ष का उपाय है।

सम्यग्दर्शन स्व और पर के भेदज्ञान-स्वरूप है और वह आत्मेतर—विवेक तत्त्वार्थ श्रद्धान से प्राप्त होता है। तत्त्वार्थ सात है—जीव, अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव चेतना लक्षण वाला है, अजीव इससे विपरीत अचेतन स्वरूप है। आस्रव-पुण्य और पाप के आने का द्वार स्वरूप है। बध-आत्मा और कर्म के परस्पर प्रदेशो मे प्रवेशात्मक रूप है। सवर का लक्षण कर्मों के आगमन को रोक देना है। कर्मों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते है। समस्त कर्मों से छूट जाना मोक्ष का लक्षण है।

जीव तत्त्व का वर्णन

१ इन्द्रिय, २. बल, ३ आयु तथा ४ श्वासोच्छ्वास-इन चार प्राणो द्वारा जो जीता है, प्राण धारण करता है वह जीव

जीव, स एवात्मशब्देनाप्युच्यते। जीवोऽयमुपयोगमयोऽमूर्त्तः, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाणः, भोक्ता, ऊर्द्ध्वगतिस्वभावश्च। तस्य द्वौ भेदौ, संसारस्थो मुक्तश्चेति। तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहे:—

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

जीवसिद्धिः चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्त्तजीवत्वं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्म्मकर्तृत्वस्थापनं

है। यह व्यवहार दृष्टि से जीवका लक्षण है। निश्चय नय से स्वचेतनात्मक स्वभाव से जो जीता है वह जीव है—वही आत्मा शब्द से भी कहा जाता है। यह जीव उपयोगमयी, अमूर्त्तिक, कर्त्ता, अपने शरीर के परिमाण वाला, भोक्ता और ऊर्ध्व-गमन स्वभाव वाला है। उस जीव के दो भेद है—एक ससारी और दूसरा मुक्त। यही द्रव्य संग्रह नामक ग्रंथ मे कहा है—

जीव जीने वाला है, उपयोगमय है, अमूर्त्तिक है, कर्त्ता है—अपने शरीर के परिमाण वाला है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है, स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है। इन नो अधिकारों द्वारा जीव तत्त्व का वर्णन किया गया है।

यहा जीव इस पद के द्वारा चार्वाक मत का परिहार किया गया है; क्योंकि चार्वाक जीव के अस्तित्व को नही मानता। ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग लक्षण पद से नैयायिक-वैशेषिक मत का परिहार किया गया है; क्योंकि वे उपयोग को जीव का

सांख्य प्रति, स्वदेहप्रमितित्व नैयायिक–मीमासक-सांख्यत्रयं प्रति, कर्म्मभोक्तृत्वसिद्धि बौद्ध प्रति, ससारस्थत्व सदाशिव प्रति, सिद्धत्व भट्ट-चार्वाकद्वय प्रति, उर्द्ध्वगति–स्वभावकथन माण्डलिक-ग्रन्थकार प्रति इति मतार्थो ज्ञातव्य ।"

अधुनैतेषा जीवस्वभावाना प्रत्येक सक्षेपतो वर्णन क्रियते–

उपयोगमयत्व–उपयोगमयत्व हि दर्शनज्ञानस्वभावात्मकत्व । दर्शनज्ञानस्वभावातिरिक्तजीवलक्षणस्याभावात् ।

स्वरूप नही मानते । भट्ट व चार्वाक जीव को मूर्त्तिक मानते हैं, उनके निराकरणार्थ अमूर्त्त विशेषण दिया गया है । सांख्य जीव को कर्मों का कर्त्ता नही मानता; अत कर्त्ता पद से साख्य मत का परिहार किया गया है । जीव को सर्व व्यापक मानने वाले नैयायिक, मीमासक और साख्यो के प्रति स्वदेह परिणाम, विशेषण दिया गया है । कर्म का कर्त्ता और कोई है तथा भोक्ता अन्य है—ऐसा मानने वाले बौद्ध के प्रति कर्म फल का भोक्ता यह विशेषण दिया गया है । सदाशिव मतवाले जीव को सदा-मुक्त मानते है–अत ससारस्थ विशेषण से उस मान्यता का निराकरण किया गया है । भट्ट तथा चार्वाक जीव का मुक्त होना ही नही मानते हैं–उनके निराकरण के लिए सिद्ध पद दिया है । माडलिक मतावलम्बी जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव नही मानते, उनके परिहार के लिए ऊर्ध्वगति विशेषण दिया है ।

अब इन जीव के स्वभावो का प्रत्येक का सक्षेप से वर्णन करते है ।

उपयोगमयी है—

उपयोगमय का अर्थ है–दर्शन–ज्ञान–स्वभावी होना । दर्शन ज्ञान स्वभाव के अलावा जीव के लक्षण का अभाव है । (उपयोग के दो भेद हैं–दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग)

ननु ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मः कथं तस्य जीवस्वभावत्वमिति न वाच्यम्। तस्य प्रकृतिधर्मत्वाभावात्। तस्या अज्ञत्वात्। आत्मनश्चेतनत्वात्तस्यैव ज्ञत्वात्। चेतनत्वज्ञत्वयोरविनाभावात्। न च मुक्तात्मनि ज्ञानाभावाच्चेतनत्वज्ञत्वयोर्न व्याप्तिरिति वक्तव्यं, मुक्तात्मनोऽनन्तदर्शनज्ञानोपयोगमयत्वात्।

अमूर्तित्व–मूर्तिर्हि रूपादिसंस्थानपरिणामः। न च स जीवस्यास्ति, तस्य रूपरसगन्धस्पर्शात्मकत्वाभावात्।

शकाकार कहता है कि—ज्ञान प्रकृति का धर्म है वह जीव का स्वभाव कैसे हो सकता है ? "(उत्तर) ऐसा नही कहना चाहिए; क्योंकि ज्ञान प्रकृति का धर्म नही है। प्रकृति तो अज्ञ है-जड है। आत्मा चेतन है; अतः वही ज्ञान स्वभाववाला है। चेतनत्व और ज्ञत्व का अविनाभाव सम्बन्ध है। मुक्तात्मा में ज्ञान के अभाव होने से चेतनत्व और ज्ञत्व की व्याप्ति नही है–ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योकि मुक्तात्मा अनन्त दर्शन और ज्ञान स्वभाववाला है।

अमूर्त्तिक है—

मूर्त्तिक का अर्थ है रूप, रस, गध, स्पर्श रूप परिणमन करना। पर ऐसा परिणमन जीव के नही है–क्योंकि जीव के रूप (श्वेत, पीत, हरित, लाल और काला–ये पाच प्रकार के रूप), रस (खट्टा, मीठा, कडवा, कषायला और चरपरा–पांच प्रकार का रस), गध (सुगन्ध और दुर्गन्ध दो भेद) और स्पर्श (आठ–शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कर्कश, गुरु, लघु) स्वरूप होने का अभाव है। (उक्त गुण पुद्गल द्रव्य के है जीव द्रव्य के नही।)

ननु चात्मन. पृथिव्यादिचतुष्टयात्मकत्वाद् रूपाद्यात्मकत्व-मितिचेन्न अचेतनेभ्यश्चैतन्योत्पत्त्ययोगात् । न चात्मनि पृथिव्या-दिगुणधारणेरणद्रवोष्णतालक्षणोऽन्वयो दृश्यते । यदि भूत-चतुष्टयात्मकत्वमात्मन स्वीक्रियेत तर्हि तद्दिनजातबालकस्य स्तनादावभिलाषाभावप्रसग स्यात् । अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने सति भवति, प्रत्यभिज्ञान च स्मरणे, स्मरण चानुभवे भवतीति पूर्वानुभव सिद्ध । मध्यदशायां तथैव व्याप्ते । अन्यथा पूर्व-जन्मस्मृतिर्न स्यात् । मृतानां रक्षोयक्षादिकुलेपु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयता दर्शनाच्च सनातन आत्मा सिद्ध. । तथा चोक्तं—

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञ' सनातनः '।

शका—आत्मा के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो रूप होने से रूपादिक पना है—(उत्तर) ऐसा नही है क्योकि अचेतन इन चारो से चेतन की उत्पति नही हो सकती । और न आत्मा मे पृथ्वी का धारण, जल की द्रवता, वायु का प्रेरण और अग्नि की उष्णता गुण ही प्राप्त है ।

यदि आत्मा को चार भूतात्मक स्वीकार कर लिया जाय तो उसी दिन उत्पन्न होने वाले बालक के स्तन पान की अभि-लाषा के अभाव का प्रसग आ जायगा । अभिलाषा निश्चय से प्रत्यभिज्ञान के होने पर होती है । प्रत्यभिज्ञान स्मृति (पूर्व पदार्थ की याद) पूर्वक होता है । और स्मृति धारण रूप अनुभव के होने पर होती है । अत पूर्वानुभव सिद्ध हो जाता है । जीवन के मध्य भाग मे भी इसी तरह की अभिलाषा आदि की व्याप्ति सिद्ध है । अन्यथा—पूर्व जन्म का स्मरण नही होगा । मरे हुए जीवो का राक्षस यक्ष आदि कुलो मे उत्पन्न होना स्वय के द्वारा कहते हुए देखा जाता है अत' आत्मा

तथा च न तदानीमेव पृथिव्यादिचतुष्टयसंयोगादात्मनः उत्पत्तियुं क्तिपथप्रस्थायिनी । कर्मबंधापेक्षया व्यवहारनयमाश्रि-त्योपचारतस्तस्य मूर्तिमत्वस्वीकारे तु न काचन क्षतिः । तथा चोक्तं—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।।

[वर्णा रसाः पच, गंधौ द्वौ, स्पर्शा अष्टौ, निश्चयात् जीवे ।
नो सन्ति अमूर्तिस्ततः व्यवहारात् मूर्तो बंधात् ।।]

कर्त्तृत्व—व्यवहारनयादयमात्मा ज्ञानावरणादीना पुद्गल-कर्मणां घटपटादीना च, अशुद्धनिश्चयनयाद् रागद्वेषादीनाम-

---

अनादि कालीन सिद्ध होता है । यह ही कहा है—

नव जात बालक के स्तन पान की तीव्र इच्छा से; व्यन्त-रादिक के देखने से, पूर्वभव के स्मरण से तथा पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय के गुण धर्म स्वभाव का आत्मा मे नही पाए जाने से आत्मा स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा और नित्य सिद्ध होता है । इस तरह पृथिव्यादिक चतुष्टय के संयोग से आत्मा की उत्पत्ति का कथन युक्तियुक्त नही ठहरता है । कर्म बन्ध की अपेक्षा से व्यवहारनय का आश्रय लेकर उपचार से आत्मा को मूर्त्ति-मान मान लेने मे तो किसी प्रकार की कोई हानि नही है । वही कहा है—

पांच वर्ण, पाच रस, दो गध, आठ स्पर्श निश्चय नय की अपेक्षा जीव में नही हैं—अतः वह अमूर्त्तिक है; किन्तु पौद्गलिक कर्मों से बधा होने के कारण व्यवहार से वह मूर्त्तिक है ।

कर्त्तृत्व—(कर्त्तापना) व्यवहार नय की अपेक्षा से यह आत्मा ज्ञानावरणादिक आठ पुद्गल कर्मो का और घट वस्त्र

शुद्धभावाना, शुद्धनिश्चयनयाच्च स्वकीयशुद्धभावानां कर्ता। आत्मनो यदि कर्तृत्वं नाङ्गीक्रियेत तर्हि तस्य भोक्तृत्वमपि न स्यात्। न च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः कश्चन विरोधः, अन्यथा भोक्तुर्भुंजिक्रियायाः कर्तृत्व न स्यात्। न चान्यस्य कर्तृत्वमन्यस्य भोक्तृत्वमन्यथा कृतनाशा कृताभ्यागमप्रसगः स्यात्, ततः आत्मनः कर्तृत्व तर्कसिद्धम्।

स्वदेहपरिमाणत्व—यावदय जीवः कर्मभिर्न विमुच्यते तावद् स्वकर्मविपाकवशात् ससार एव परिभ्रमति। कदाचिन्मनुष्यः, कदाचिद्देवः कदाचिन्नारकः, कदाचिच्च तिर्यक्समुत्पद्यते। हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्यैरशुभैस्तद्विरतिरूपै शुभैश्च

आदि का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से रागद्वेष आदि अशुद्ध भावो का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चयनय से अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि शुद्ध भावो का कर्त्ता है। आत्मा का यदि कर्त्तापना स्वीकार न किया जाय तो उसके भोक्तापना भी नही होगा। कर्त्तापने मे और भोक्तापने मे कोई विरोध हो—ऐसी बात नही। नही तो भोक्ता के भुजिक्रिया (भोगने रूप क्रिया) का कर्त्तापना भी नही हो सकेगा। अन्य कर्त्ता हो और अन्य भोक्ता हो—ऐसा कभी नही बनता। यदि ऐसा हो जाय तो किए हुए का नाश और नही किये हुए के आगमन का प्रसग उपस्थित होगा। इसलिए आत्मा के कर्त्तापना तर्क से सिद्ध है।

स्वदेह परिमाणत्व—जब तक यह जीव कर्मों से छुटकारा नही पाता तब तक अपने कर्मों के फल से ससार मे भ्रमण करता रहता है। कभी मनुष्य बनता है, कभी देव, कभी नारकी और कभी तिर्यञ्च बनता है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील

भावैः पाप पुण्यं च समुपार्ज्य शोभनाशोभनशरीरं लभते। यादृशमणुमहद्वा शरीरं विन्दति तावत्प्रमाणः प्रदेशसंहार-विसर्पवत्वात् प्रदीपवत् सकोचविकासशाली भवति। पिपीलि-काशरीरस्थ एवात्मा यदा हस्तिशरीरमाप्नोति तदा तत्प्रमाणो भवति। तथा च नात्मा व्यापकः।

ननु आत्मा व्यापको द्रव्यत्वे सति अमूर्तत्वात्, इत्यनुमाना-त्तस्य व्यापकत्व सिद्धयति इति चेन्न, अत्र यदि रूपादिलक्षणं मूर्तत्वं तत्प्रतिषेधोऽमूर्तत्व, तदा मनसा व्यभिचारः, अथासर्व-गतद्रव्यपरिमाण मूर्तत्वं, तत्प्रतिषेधस्तथा चेत्, परं प्रति साध्य-

---

तथा परिग्रह नामक अशुभ भावों से तथा इनसे विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप शुभ भावों से पाप और पुण्य उत्पन्न करके सुन्दर और कुरूप शरीर धारण करता है। जिस प्रकार का छोटा या बडा शरीर मिलता है उसी प्रमाण आत्मा सकुचित और विस्तृत हो जाता है; क्योंकि आत्म-प्रदेशों में फैलने और सिकुडने की शक्ति है, दीपक की तरह। पिपीलिका (लट) के शरीर मे स्थित आत्मा ही जब हाथी का शरीर प्राप्त करती है तब हाथी के प्रमाण हो जाती है। इस तरह आत्मा व्यापक नही है।

शंकाः—आत्मा व्यापक है, द्रव्य होकर अमूर्तिक होने से। इस अनुमान से आत्मा के व्यापकपना सिद्ध होता है (उत्तर) यह ठीक नही है। यदि यहा मूर्तपने का लक्षण रूपादिमान माना जाय और उसका उलटा अमूर्त्तपना माना जाय तो मन से व्यभिचार नामक दोष आता है-क्योकि मन को द्रव्य मान करके भी अमूर्त माना है, परन्तु उसे व्यापक नही माना। यदि मूर्तपने का लक्षण असर्वगत द्रव्य परिमाणवाला और इससे विपरीत अमूर्त्त का लक्षण माना जाय तो हम जैनो के प्रति

समो हेतु । यच्चापरमनुमानमात्मा व्यापकः अणुपरिमाणा-नधिकरणत्वे सति नित्यत्वात् । तदपि न समीचीन । आत्मन' सर्वथा नित्यद्रव्यत्वाभावात् । नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रिया-विरोधात्, तस्य कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्व । द्रव्यापेक्षया हि तस्य नित्यत्व पर्यायापेक्षया चानित्यत्वम् । जैनदृष्टौ सर्वेषां पदार्थाना परिणामिनित्यतास्वीकरणात् । अणुपरिमाणानधि-करणत्वमपि पर्युदासप्रसज्यपक्षाभ्या चिंत्यमान न सौस्थ्य-माभजतीति ज्ञातव्यम् ।

नाप्यात्मा वटकणिकामात्र, कमनीयपदार्थसंस्पर्शकाले प्रति-लोमकूपमाह्लादनाकारस्य सुखस्यानुभवात् । तस्य वटकणिका-मात्रत्वस्वीकारे सर्वाङ्गीणरोमाञ्चादिकार्योदयायोगात् । आलात

यह हेतु साध्य सम हो जायगा । अर्थात् फिर व्यापकपने मे और अमूर्तपने मे कोई भेद नही रहता, अत' जैसे साध्य असिद्ध होता है वैसे ही हेतु भी असिद्ध हो जाता है । और दूसरा यह अनुमान कि आत्मा व्यापक है, अणु परिमाण अधिकरण वाला न होकर नित्य होने से, आकाश की तरह, वह भी ठीक नही है; आत्मा के सर्वथा नित्य द्रव्यपने का अभाव होने से । क्योकि नित्य पदार्थ के क्रम और अक्रम से अर्थ-क्रिया होने का विरोध है । अत आत्मा कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है । द्रव्य की अपेक्षा से ही आत्मा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है जैन दृष्टि मे सब पदार्थों का स्थिर रहते हुए परिणमन स्वीकार किया गया है । अणु परिणाम अधिकरण वाला न होना यह हेतु भी पर्युदास और प्रसज्य पक्ष से विचार करने पर खरा नही उतरता—यह जानना चाहिए ।

यह आत्मा वटकणिका (बटबीज) मात्र भी नही है—सुन्दर पदार्थों के छूने के समय शरीर के प्रत्येक रोम में आल्हादि-कारक सुख की अनुभूति होने से । आत्मा को वटकणिका

चक्रवदाशुवृत्या क्रमेणैव तत्सुखमिति नोपपत्तियुक्तं । परापरान्तः-करणसंबंधस्य तत्कारणस्य परिकल्पनायां व्यवधानप्रसंगात् । यदि परापरांतःकरणयोगो न स्वीक्रियेत तर्हि सुखस्य मानस-प्रत्यक्षत्वं न स्यात् ।

न च स्वदेहप्रमितिरात्मा इत्यत्रापि प्रमाणाभावात् सर्वत्र संशय इति वाच्यं । तत्साधकस्यानुमानस्य सद्भावात् । तथाहि देवदत्तात्मा तद्देह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते, तत्रैव तत्र सर्व-त्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलंभात् । यो यत्रैव यत्र स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते, स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च

मात्र स्वीकार करने पर सारे शरीर में रोमाञ्च आदि कार्य की उत्पति का अभाव हो जायगा । कुम्हार के चाक की तरह शीघ्र घूमने से क्रम से ही सुख होता है–यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सुख के कारणभूत अन्त करण के नये नये सम्बन्ध की कल्पना करने पर अन्तराल में सुख के विच्छेद का प्रसंग आता है। और यदि परापरांतःकरण योग स्वीकार न किया जाय तो सुख के मानस प्रत्यक्षता नहीं ठहरती है । अत आत्मा वटकणिका मात्र है–यह मान्यता भी ठीक नही है ।

आत्मा स्वदेह प्रमाण है–इस सम्बन्ध मे भी प्रमाण नही मिलता । अतः आत्मा के आकार के बारे में सब मान्यताएँ सदेहपूर्ण हैं–ऐसा नहीं कहना चाहिए । आत्मा को स्वदेह प्रमाण सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण का अस्तित्व है । जैसे देवदत्त की आत्मा उसके शरीर में ही और उसके सर्व प्रदेशों में ही मौजूद है, क्योंकि उसके सारे शरीर में एवं सारे प्रदेशो में ही अपने असाधारण गुणो-ज्ञान दर्शनादि के साथ प्राप्त होने से । जो जिस वस्तु मे जहां अपने असाधारण गुणों के साथ मिलता है, वह उस वस्तु मे वहा वहां सब जगह ही

विद्यते । यथा देवदत्त गृह एव तत्र सर्वत्रैव चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभासुरत्वादिगुण· प्रदीपः तथा चाय तस्मात्तथेति । आत्मनोऽसाधारणगुणाश्च ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणास्ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यते । ज्ञान हि मेयबोधनात्मक, दर्शनं निर्विकल्पक-सत्तालोचनात्मक, सुखमाह्लादनस्वरूप, वीर्यं तु ज्ञानसुखादिधारणात्मकशक्तिस्वरूपम् ।

तस्मादात्मा स्वशरीरप्रमाण एव युक्तिसमर्थित. । न चात्मेंद्रियमनोरूप., द्रव्येद्रियद्रव्यमनसोः पुद्गलात्मकत्वेन जडत्वात् । इ द्रियादिविनाशेपि आत्मनोऽवस्थानात् । भावेन्द्रिय– भावमनसोस्तु आत्मभिन्नत्वाभावात् ।

रहता है । जैसे देवदत्त के घर मे ही अपने असाधारण प्रकाशकत्व आदि गुणो से युक्त दीपक सब जगह ही प्राप्त होता है, इसी तरह देवदत्त की आत्मा है । इसलिए देवदत्त की आत्मा उसके पूरे शरीर मे व्याप्त है । आत्मा के असाधारण गुण ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य स्वरूप है और वे आत्मा मे ही सर्वाङ्ग रूप व्याप्त पाये जाते है । ज्ञेय के जानने रूप लक्षणवाला ज्ञान कहलाता है । विकल्प रहित द्रव्य के अस्तित्व मात्र को ग्रहण करने वाला दर्शन कहा जाता है । आकुलता रहित परम आनन्द सुख का लक्षण है और ज्ञान सुख वगैरह धारण करने स्वरूप शक्ति को वीर्य कहते है ।

इसलिए आत्मा स्वदेह प्रमाण ही युक्तियो से सिद्ध होता है । और आत्मा इन्द्रिय और मन रूप नही है, क्योकि द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य मन के पुद्गल होने से अचेतनता है तथा द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन के नाश हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है । भावेन्द्रिय और भाव मन तो आत्मा से भिन्न न होने से आत्मरूप ही है ।

भोक्तृत्व—यथाऽयमात्मा स्वकर्मणां स्वकीयभावानां च कर्त्ता तथैव तेषां फलभोक्ताऽपि । व्यवहारनयात् स पौद्गलिक-कर्मफलं प्रभुङ्क्ते निश्चयनयतस्तु आत्मनश्चेतनभाव । यद्यन्यः कर्त्ता स्यादन्यश्चभोक्ता स्यात् तदा स्वय कृतं कर्म निरर्थकं भवेत् प्रयत्नश्च सर्वोऽपि निष्फल· स्यात् ।

ऊर्ध्वगतिस्वभावत्व—वस्तुतोऽयमात्मा ऊर्ध्वगतिस्वभावः कर्मबंधनपारतन्त्र्यात्तु यत्र गतु कर्म प्रेरयति तत्रैव गच्छति । यदा तु सर्वतो कर्मबंधनमुक्तो भवति तदा स्वभावतः ऊर्ध्वमेव व्रजति । कर्मबद्धस्तु जीव. स्वस्वकर्मानुसार विभिन्ना गति लभते ।

भोक्ता है—

जिस प्रकार यह आत्मा अपने कर्म और अपने भावो का कर्त्ता है, उसी तरह उनके फल को भोगने वाला भी । व्यवहार नय से वह पुद्गल रूप कर्मो के फल सुख दुःख को भोगता है और निश्चय नय से आत्मा के चैतन्य भाव से उत्पन्न परमामृत का भोक्ता है । यदि कर्म और कोई करे और उसका फल कोई दूसरा भोगे तो अपने द्वारा किया हुआ कर्म निष्फल होगा और उसके लिए किया गया सम्पूर्ण प्रयत्न भी व्यर्थ होगा ।

स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है—

वास्तव में तो यह आत्मा ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है; लेकिन कर्म बन्धन की परतन्त्रता से कर्म जहा जाने को प्रेरित करता है वहां ही जाता है । जब यह आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो जाता है तब स्वभाव से ऊपर ही जाता है । कर्मों से जकडा हुआ जीव तो अपने अपने कर्मानुसार विभिन्न गति को प्राप्त होता है ।

इत्थ जीवत्वादिस्वभावै समर्थित एष जीवो द्विविध ससारस्थ सिद्धश्च। यो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैर्नानायोनिषु संसरति स ससारी। ससारीजीव स्थावरत्रसभेदेन द्विविध तत्र पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतय स्थावरा.। कृम्यादयोद्वीद्रिय–त्रीद्रिय–चतुरिंद्रिय पंचेद्रिया, त्रसा:। पचेंद्रिया अपि समनस्काऽमनस्कभेदेन द्विप्रकारा। जीवाना चतुर्दशजीवसमास–चतुर्दशमार्गणा–चतुर्दशगुणस्थान-विकल्पैरपि अनेकभेदा भवंति। ते च सर्वे परमागमादूह्या। जीवस्याऽय मसारित्वभेदोऽशुद्ध नयादेव। शुद्धनयात्तु सर्वे जीवा शुद्धा एव।

सिद्धत्व—जीवोऽय गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्भावितात्मा बाह्याभ्यन्तरद्विविधेन तपसा समुपात्तशक्तिः श्रुत-

---

संसारी है—

इस प्रकार जीवत्व वगैरह स्वभावो से समर्थित यह जीव दो प्रकार का है–ससारी और सिद्ध। जो मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र से अनेक योनियो मे परिभ्रमण करता है वह ससारी है। ससारी जीव स्थावर और त्रस के भेद से दो प्रकार का है। उनमे पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय स्थावर है। लट वगैरह को लेकर दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव त्रस है। पचेन्द्रिय भी सैनी असैनी दो प्रकार के है। जीवो के चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थान के भेदो से अनेक भेद होते हैं। उन सबको परमागम से जानना चाहिए। जीव का संसारी यह भेद अशुद्धनय से ही हैं। शुद्ध नय से तो सब जीव शुद्ध ही है।

सिद्ध है—

यह जीव गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र द्वारा आत्मा को साधता हुआ, बाह्य और अभ्यन्तर

ज्ञानाविचलपर्यायात्मकेन शुक्लध्यानाग्निना निर्दग्धकर्मेन्धनो यदा समुपात्तमनुष्यशरीरं परित्यज्य चरमशरीरात् किंचिन्न्यून-परिमाणो लोकाग्रस्थाने सिद्धत्वं प्राप्नोति तदा तस्याष्टकर्म विनाशादष्टौगुणा प्रादुर्भवंति-ज्ञानावरणक्षयादनंतज्ञानं. दर्शना-वरणक्षयादनंतदर्शन, अन्तरायक्षयादनतवीर्यं, वेदनीयक्षयादव्या बाधत्वमिद्रियजनितसुखाभावो वा, मोहनीयक्षयात् परम सम्यक्त्वं सुख वा। आयु क्षयात् परमसौक्ष्म्यमुत्पत्तिमरणाह-निर्वा। नामक्षयात् परमावगाहनममूर्त्तत्व वा। गोत्रक्षयादगुरु-लघुत्वमुभयकुलाभावो वा।

अथ जीव एवात्मशब्देनाऽपि प्रोच्यत इति पूर्वमुक्त। अध्या-त्मभाषया एष आत्मा त्रिविधोप्यस्ति बहिरात्मा, अंतरात्मा,

---

दो प्रकार के तप से शक्ति प्राप्त करके, श्रुतज्ञान की निश्चल पर्याय स्वरूप शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी इन्धन को भस्म करता हुआ जब प्राप्त मनुष्य शरीर को छोडकर अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार का धारी होकर लोक के अग्रभाग में सिद्धत्व को प्राप्त होता है—उस समय उसके आठ कर्मों के नाश से आठ गुण प्रकट होते हैं। ज्ञानावरण कर्म के नाश से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनन्त दर्शन, अन्तराय के नाश से अनन्त वीर्य, वेदनीय के नाश से अव्या-बाधत्व या इन्द्रिय जनित सुख का अभाव, मोहनीय के नाश से क्षायिक सम्यक्त्व या अनन्त सुख, आयु के नाश से परम सूक्ष्मत्व अथवा जन्म मरण का विनाश, नाम के नाश से अव-गाहनत्व या अमूर्तत्व, गोत्र के नाश से अगुरुलघुत्व या उच्च-कुल नीच कुल का अभाव होता है।

यह जीव आत्मा नाम से भी कहा जाता है—ऐसा पूर्व में कहा गया है। अध्यात्म वाणी से यह आत्मा तीन प्रकार का भी है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर

परमात्मा वेति । शरीरादौ य आत्मबुद्धि करोति स बहिरात्मा, तद्विपरीतो जातात्मेतरविवेक अंतरात्मा, विमुक्तकर्ममलकलङ्कश्च परमात्मा प्रोच्यते । परमात्मा साध्य अंतरात्मा च साधन, बहिरात्मा तु हेय । न चैतेषु त्रिपु आत्मसु द्रव्यार्थदिशात् कोपि भेदोऽस्ति । पर्यायार्थदिशात्तु भेद स्पष्ट एव । एक एवात्मा पर्यायेण त्रिरूप: प्रोच्यते । यथा मनुष्यत्वापेक्षया सर्वे मनुष्या: समाना. । राजापि मनुष्यो रङ्कश्चापि मनुष्यो, न कश्चन तत्र भेदोऽस्ति । मनुष्यगणनावसरे समान्येनैव सर्वेषां गणना विधीयते । तथैव आत्मत्वसामान्येन नैते कंचनापि भेदमर्हति । सर्वेष्वात्मसु परमात्मत्वाविर्भावशक्तिर्विद्यते । केवलं तच्छक्ति-प्रकटनाय प्रयत्नोऽपेक्ष्य. । नचात्रेश्वराख्यो भिन्न आत्मा ।

वगैरह मे आत्म बुद्धि करता है वह वहिरात्मा है । उससे उल्टा अर्थात् जिसे स्वपर का भेदज्ञान हो जाता है वह अन्तरात्मा है और जो कर्ममल की कालिमा से रहित हो जाता है वह परमात्मा कहा जाता है । परमात्मा वनना ध्येय है, अन्तरात्मा होना उसका कारण है और बहिरात्मा होना तो छोडने योग्य है। इन तीनो आत्माओ मे द्रव्यार्थिक नय को अपेक्षा कोई भेद नही है । पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तो भेद साफ ही है । एक आत्मा ही पर्याय की अपेक्षा तीन रूप कहा जाता है । जैसे मनुष्यता की अपेक्षा सारे मनुष्य समान हैं। राजा भी मनुष्य है और गरीब भी मनुष्य है—वहा कोई भेद नही है । मनुष्य गणना के समय सामान्य रूप से ही सब की गणना मनुष्यो मे की जाती है। उसी प्रकार सामान्य आत्मा की अपेक्षा इन तीनो मे कोई भेद नही है। सम्पूर्ण आत्माओ मे परमात्मा बनने की शक्ति मौजूद है । सिर्फ उस शक्ति को प्रकट करने का प्रयत्न करना होता है । जैन धर्म में ईश्वर नाम का

परमात्मन एवेश्वरत्वात् । एष भेदस्तु कर्मकृत । यथा शुद्धाशुद्धकांचनयोः किट्टकालिकादिकृतः भेद । एतदपसरणे तु निखिलमपि कांचनं समानमेव । तथैवात्मान अपि सर्वे समाना एव कर्मापसरणे ।

ये त्वात्मनो नरनारकादिपर्यायकृत जातिकुलादिकृतं शरीरकृत च भेदं वास्तविक मन्यंते ते मूढा बहिरात्मान एव । न तेषां कदाचनापि मुक्तिः स्यात् । तथा चोक्तं पूज्यपादेन महामनसा—

"बहिरात्मेंद्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ।
नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ।

कोई भिन्न आत्मा नही माना जाता। परमात्मा ही ईश्वर है। यह भेद तो कर्म के कारण से है। जैसे शुद्ध और अशुद्ध सोने में किट्टिमा-कालिमा वगैरह का भेद है। जब यह किट्टिमा कालिमा दूर हो जाती है तो सब सोना समान ही है। उसी प्रकार कर्मो के हट जाने पर सम्पूर्ण आत्माएँ समान ही हैं।

जो जीव के नर नारकादि पर्यायों से, जातिकुलादि से और शरीर से होने वाले भेद को सत्य मानते है वे मूर्ख तो बहिरात्मा ही है। उनकी मुक्ति कभी नही होगी। जैसा कि महामना पूज्यपाद आचार्य ने कहा है—

"आत्मज्ञान शून्य बहिरात्मा इन्द्रियो से प्रकट होने वाले अपने शरीर को ही आत्मा निश्चय करता है।

वह मूर्ख, मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य मानता है, तिर्यंच शरीर में रहने वाले को तिर्यंच तथा देव के शरीर में रहने वाले आत्मा को देव समझता है। नारकी के शरीर

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।

अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ।"

कर्मबंधनबद्ध एवात्मा यदा गुरूपदेशादभ्यासात् स्वसंवित्तेश्च स्वपरांतर विजानाति तदा मोक्षाभिमुखो भवति । स एव च यदा संसारसौख्यमोक्षसौख्ययोर्वस्तुतोऽन्तरमनुभवति, तदैव तस्य स्वानुभूति प्राप्ता भवेत् ।

का स्वानुभूतिरितिचेत्, मनोविश्रात्यात्मक स्वोत्थसुखास्वाद एव सेति । एतादृशीमनुभूतिमनुभवत्यतरात्मा ।

वस्तुतस्तु बाह्यगुरूपदेशो निमित्तमात्रं । तत' स्वयमेवात्मना स्वोत्थाने बद्धपरिकरेण भवितव्यम् । अन्यथा बाह्यनिमित्त न किंचिदभिलषितं साधयेत् । निमित्तान्यन्वेषयंतो जना लौकिका-

---

मे रहने वाले आत्मा को नारकी जानता है । पर आत्मा वास्तव मे ऐसा नही है । वह तो अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति का पुंज है, निश्चल है और स्वय आत्मा के द्वारा ही जाना जाता है ।"

कर्मबधन से जकडा हुआ जीव ही जब गुरु के उपदेश, शास्त्रो के पठन पाठन और आत्मज्ञान के द्वारा स्व और पर के अन्तर को जानता है तब वह मोक्ष के सन्मुख होता है और वही जब ससार सुख और मोक्ष के सुख का वास्तविक भेद अनुभव करता है, तभी उसे स्वानुभूति प्राप्त होती है ।

स्वानुभूति क्या है ऐसा पूछो तो मन के विश्राम पूर्वक आत्मा से उत्पन्न परम आह्लाद का स्वाद आना ही स्वानुभूति है । ऐसी अनुभूति अन्तरात्मा ही अनुभव करता है ।

वास्तव मे तो बाह्य मे गुरु का उपदेश निमित्त मात्र ही है । इसलिए स्वयं आत्मा को ही अपने उत्थान के लिए तत्पर होना चाहिए, नही तो बाह्य निमित्त कुछ भी इच्छा पूर्ति नही

र्थेऽपि न कृतार्था भवति किं पुनरलौकिकार्थे। आत्मोत्थानं चाविद्याविनाशात् अविद्याविनाशश्च स्वकीयज्ञानमयज्योतिषा। तदेवाविद्याभिदुरं। तस्यैव पृच्छा कर्तव्या मुमुक्षुभिस्तस्यैवान्वेषणं दर्शनं च। तेनैवाऽयमात्माऽविद्यामयं पररूपं विनाश्य विद्यामयं स्वकीयरूपं प्राप्नुयात्। तथा चाहुर्महर्षयः—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्,
तत् प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।
तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत् तत्परो भवेत्,
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।

कर सकता। निमित्तों के पीछे पडने वाले लोग तो सासारिक काम में भी सफल नही हो पाते, फिर आध्यात्मिक कार्य में तो सफल ही क्या होगे ? और आत्मा का उत्थान अज्ञान के नाश से होता है और अज्ञान का नाश आत्मिक ज्ञान के प्रकाश से होता है। वह प्रकाश ही अविद्या का नाशक है। उस ज्योति या प्रकाश के बारे मे ही आत्महित चाहने वाले को प्रश्न करना चाहिए, उसी की खोज और उसी का दर्शन करना चाहिए। उसी से यह आत्मा अविद्यामय पर रूप का नाश कर विद्यामय अपने निजरूप को प्राप्त होगी। महर्षियो ने यही कहा है—

"अविद्या को नष्ट करने वाली परमोत्कृष्ट एव महान् जो ज्ञान रूप ज्योति है, मोक्ष चाहने वाले लोगों का कर्त्तव्य है कि वे उसी ज्योति के विषय में प्रश्न करें, उसी की खोज करे और उसी का साक्षात्कार करे।

उस ज्ञान ज्योति के बारे मे ही बोले, उसी के बारे में दूसरो को पूछे, उसीको प्राप्त करने की इच्छा करे और उस रूप ही हो जाँय जिससे यह आत्मा अविद्यामय रूप को छोड़-कर अपने ज्ञान स्वभाव को प्राप्त करले।"

यश्चात्मविमुखोऽविद्वान् पुद्गलद्रव्यमभिनदति तदेवचात्मसात् कर्तुं प्रयतते, तत्सयोगे हर्षति तद्वियोगे च दुःखीयति तदेव च स्वात्मोन्नतिकारणमभिमन्यते तस्य बहिरात्मनः तत्कर्मनोकर्मरूपं पुद्गलद्रव्यं न कदाचिदपि सामीप्य मुंचति । तस्य यत् किंचित् सौख्य भवति तत् कर्माधीन, सांत, दुःखविमिश्रित, पापबीज च । अतो बहिरात्मत्व विहायान्तरात्मत्वलब्धौ प्रयत्नोविधेय । स एव धर्म्यशुक्लध्यानबलेनोत्तरोत्तरमात्मगुणस्थानान्यारोहति । बहिरात्मा तु प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेवनातिक्रमते । कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविष्ट एष ज्ञानचेतनाविरहितः कर्मकरणे कर्मफलभोगे चासक्त न कदापि शान्तिमधिगच्छति । अतरात्मा तु ज्ञानचेतनाभावितान्तःकरणः सम्यग्दृष्टि. कर्द-

---

आत्म ज्ञान से शून्य जो मूर्ख पुद्गल द्रव्य की प्रशसा करता है और उसी को अपनाने का प्रयत्न करता है, उसके मिल जाने पर प्रसन्न होता है और उसके वियोग मे दुखी होता है और उसीको आत्मा की उन्नति का कारण मानता है उस बहिरात्मा का कर्म नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य कभी साथ नही छोड़ता । उसे जो कुछ सुख मिलता है वह कर्मों के अधीन होता है, अन्त सहित होता है, दुःख से मिला होता है और पाप का कारण होता है । इसलिये बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा बनने का प्रयत्न करना चाहिए । वही जीव धर्म्यध्यान शुक्लध्यान के बल से अपने आगे आगे के गुणस्थानों पर चढता है । बहिरात्मा तो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से आगे ही नही चढता । ज्ञान चेतना से रहित यह बहिरात्मा कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से ग्रस्त रहता हुआ कर्म करने और कर्म के फल भोगने मे आसक्त रहता है और कभी शाति प्राप्त नही करता । ज्ञान चेतना रूप है हृदय जिसका ऐसा

मात्कहेमकमलवत् निर्लेप. स्वात्मानदमनुभवति ।

अंतरात्मा त्रिविधः असंयमी, संयमासंयमी, संयमी च । तत्र चतुर्थगुणस्थानवर्तीसमुपलब्धस्वरूपाचरणसामर्थ्योऽपि चारित्र-मोहकर्मोदयात् यावत् संयमं धारयितुं समर्थो न भवति तावद-संयमी अंतरात्मा प्रोच्यते । धृतैकदेशसंयम. स्वात्मानुभूति-कुशलः पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकस्तु सयमासंयम्यन्तरात्मपद-वाच्य· । इमौ द्वौ धर्म्यध्यानेन स्वसंस्कार कुरुतः । षष्ठगुणस्था-नादारभ्य द्वादशगुणस्थानपर्यन्तं सप्तगुणस्थानेषु संयमिनोऽन्तरा-त्मानो भवंति । एते हि विजितसकलचारित्रमोहकर्माणः सप्तम-गुणस्थानांतं धर्म्यध्यानेन ततः परं शुक्लध्यानेनात्मशुद्धितत्पराः

अन्तरात्मा तो सम्यग्दृष्टि होता है वह कीचड से पैदा हुए स्वर्णिम कमल की तरह कर्मों से लिप्त नहीं होता और अपने आत्मा से पैदा हुए आनन्द का अनुभव करता है ।

अन्तरात्मा के तीन प्रकार हैं—असयमी, सयमासयमी और सयमी । उनमें जब तक चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव स्वरूपाचरण चारित्र की शक्ति को प्राप्त करके भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से संयम धारण करने में समर्थ नहीं होता तबतक वह असंयमी अन्तरात्मा कहलाता है । जिसने एकदेश सयम धारण किया है, जो अपनी आत्मा के अनुभव मे प्रवीण है ऐसा पंचम गुणस्थानवाला श्रावक तो संयमासंयमी अन्तरात्मा पद के द्वारा कहा जाता है । ये दोनो धर्म ध्यान के द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल करते है । छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थान वाले संयमी अन्तरात्मा कहलाते हैं । चारित्र मोहनीय कर्म को सम्पूर्ण रूप से जीतते हुए ये संयमी अन्तरात्मा सातवे गुणस्थान तक धर्म्य ध्यान से और उससे आगे शुक्ल ध्यान से आत्म-शुद्धि में

उपशांतक्षीणमोहप्रकृतय स्वात्मानुभव कुर्वंति। स्वात्मानुभवस्तु रागद्वेषोपरमादिष्टानिष्टकल्पनाभावात् स्वात्मन्यवस्थानं। पंचपरमेष्ठिषु त्रय परमेष्ठिन आचार्योपाध्यायसाधवः अंतरात्मान एव।

परमात्मा द्विविधो सशरीरोऽशरीरश्चेति। तयोरेकत्ववितर्काविचाराभिधद्वितीयशुक्लध्यानेन विनष्टज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यचतुर्घातिकर्मा समवाप्तलोकालोकप्रकाशककेवलाववोध त्रयोदशचतुर्दशगुणस्थानवर्ती तीर्थकर इतरो वा केवली सशरीरपरमात्मा कथ्यते तस्य शरीरेण-सहितत्वात्। एष त्रयोदशगुणस्थानवर्ती सदेहपरमात्मैव तीर्थं प्रणीति-भव्यान् भवाम्बोदधितारक धर्ममुपदिशति च। सकलसुरासुरनरेंद्र-

---

तत्पर रहते हुए मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम या क्षय करते हुए अपने आत्मा का अनुभव करते हैं। राग द्वेष के नष्ट हो जाने पर इष्ट अनिष्ट कल्पना के न होने से अपने आत्मा मे ही स्थिर होना स्वात्मानुभव है। पाच परमेष्ठियों में आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीनों ही अन्तरात्मा हैं।

परमात्मा दो प्रकार का है-शरीर सहित और शरीर रहित। उन दोनो मे एकत्ववितर्कवीचार नामक दूसरे शुक्ल-ध्यान के वल से जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारो घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसा तेरहवे गुणस्थानवाला तीर्थंकर या दूसरा केवली सशरीर या सकल परमात्मा कहलाता है; क्योकि वह शरीर सहित होता है। तेरहवे गुणस्थानवाला यह सदेह तीर्थंकर परमात्मा ही तीर्थ चलाता है और भव्य जीवो को ससार समुद्र से पार लगाने वाले धर्म का उपदेश करता है। सम्पूर्ण इन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्ती जिनके चरण कमलों की सेवा

सेवितचरणाब्ज एषोऽनतज्ञानदर्शनसुखवीर्याख्याऽनतचतुष्टय-समन्वितात्माऽर्हत्, जिनेद्र, आप्त, इत्यादि शब्दै व्यवह्रियते अर्हायोग्यत्वात् अरिहननाद्रजोरहस्यहरणाच्च परिप्राप्तानंतचतुष्टयस्वरूप सन् इंद्रादिनिर्मितामतिशयवती पूजामर्हतीतिनिरुक्तिविषयत्वात्–कर्मजेतृणा सम्यग्दृष्टयादीनामधीशत्वात्, आगमेशित्वाच्च । अयमपि सयोगायोगकेवलिभेदेन द्विविधः ।

अशरीरपरमात्मनस्तु पूर्वोक्ताः सिद्धा एव ।

अजीव तत्त्वम्

आत्मतत्त्वातिरिक्त यत्किंचिद् दृश्यमदृश्यं चास्ति तद् सर्वमजीवतत्त्व प्रोच्यते। प्रामुख्येनै तद्द्वयमेव तत्त्वम् । अवशिष्टानि

करते है और जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य नामक अनन्त चतुष्टय से संयुक्त होते हैं ऐसा वह आत्मा अर्हत्, जिनेन्द्र, आप्त वगैरह शब्दो से कहा जाता है। पूजा के योग्य होने से मोहनीय के नाश से तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण एव अन्तराय का नाश करने से अनन्त चतुष्टय स्वरूप को प्राप्त करते हुए इन्द्रादिको द्वारा की गई दिव्य पूजा के योग्य, इस निरुक्ति के धारक होने से, वह अर्हत् कहा जाता है । कर्म जीतने वाले सम्यग्दृष्टि लोगो के नाथ होने से वह जिनेन्द्र कहा जाता है और आगम का प्रणेता होने से वह आप्त कहा जाता है । यह सकल परमात्मा सयोग केवली अयोग केवली भेद से दो प्रकार का है ।

अशरीर या निकल परमात्मा तो पहले कहे गए सिद्ध ही हैं ।

अजीव तत्त्व

आत्म तत्त्व को छोडकर जो कुछ दिखाई पडनेवाला अर्थात् स्थूल तथा न दिखाई पड़नेवाला अर्थात् सूक्ष्म पदार्थ है वह

आस्रवादीनि पचतत्त्वानि तु एतद्द्वयनिमित्तकानि। तदजीव-तत्त्वं पंचविध। पुद्गलो धर्मः अधर्म. आकाशं कालश्चेति। पूर्वोक्त जीवतत्त्वमिमानि पञ्च च मिलित्वा षड्द्रव्याणीति प्रोच्यते, गुणपर्ययवत्त्वात् सत्त्वाद्वा। सत्त्व चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्। को गुणः कश्च पर्याय इति चेत्, सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनश्च पर्याया। अत्रैषामजीवद्रव्याणा संक्षेपतो विवेचन विधीयते—

पुद्गलद्रव्य—रूपरसगंधस्पर्शवत्त्वं पुद्गलत्व। यत् किंचित् स्पृश्यते रस्यते गंध्यते दृश्यते श्रूयते वा तत्सर्वं पुद्गलात्मकमेव।

सब अजीव तत्त्व कहा जाता है। मुख्य रूप से ये दो ही तत्त्व हैं। बाकी आस्रव वगैरह पांच तत्त्व तो इन दोनो की पर्यायें हैं। वह अजीव तत्त्व पाच प्रकार का है-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पहले कहा गया जीव तत्त्व तथा ये पांच मिलकर छह द्रव्य हैं ऐसा कहा जाता है गुणपर्यायवान् होने से अथवा सत् होने से। उत्पाद व्यय ध्रौव्यवान् को सत् कहते हैं। गुण क्या है-पर्याय क्या है ऐसा प्रश्न होने पर, जो सदा द्रव्य के साथ रहते हैं-कभी अलग नही होते वे गुण कहे जाते हैं और जो एक के बाद एक होती है वे पर्याय कही जाती हैं। यहा इन अजीव द्रव्यो का सक्षेप मे कथन किया जाता है—

पुद्गल द्रव्य

जो रूप, रस, गघ, स्पर्श से युक्त हो उसे पुद्गल कहते है। जो कुछ छूया जाता है, चखा जाता है, सूंघा जाता है, देखा जाता है अथवा सुना जाता है वह सब ही पुद्गल है।

नन्वस्तु स्पर्शरसगंधवर्णाना पुद्गलात्मकत्वं शब्दस्य तु आकाशगुणत्वात् कथं पुद्गलत्वमितिचेन्न, शब्दो नाकाशगुणः मूर्तिमत्वात्। ननु अमूर्तः शब्द इतिचेन्न मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिदर्शनात् शब्दस्य मूर्तिमत्वात्। शब्दो हि मूर्तिमता इंद्रियेण गृह्यते, मूर्तिमता कुड्यादिना चाव्रियते, मूर्तिमता प्रतिकूलवाय्वादिना तस्य व्याघातो भवति, बलीयसा ध्वन्यंतरेण तस्याभिभवो दृश्यते इति तस्य मूर्तिमत्त्वं तर्कसिद्धं ततश्च पुद्गलत्वं।

तथैव पुण्यापापाख्यस्य कर्मणोऽपि पुद्गलात्मकत्वमेव। स्यादेतत् कर्मणः पुद्गलात्मकत्वमसिद्धमात्मगुणत्वात्तस्येति न वक्तव्यं, तस्यात्मगुणत्वाभावात्। किं कारणमितिचेत्-अमूर्तेर-

---

शङ्काकार शंका करता है कि स्पर्श रस गन्ध वर्ण तो पुद्गल की पर्याय हो सकती हैं परन्तु शब्द तो आकाश का गुण है वह पर्याय कैसे होगा ? ऐसा कहना ठीक नही, शब्द आकाश का गुण नहीं है मूर्तिक होने से। कोई कहे कि शब्द अमूर्त है– ऐसा नही हो सकता। पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जाने से, रुकने से, टकराने से, दबने से शब्द मूर्तिक ही है। निश्चय पूर्वक शब्द मूर्तिक श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, मूर्तिक दीवार वगैरह से रुकता है, मूर्तिक प्रतिकूल हवा वगैरह से वह टकराता है, बलवान् दूसरे शब्द से उसका दब जाना प्रतीत होता है। इसलिए उसका मूर्तिक होना तर्कसिद्ध है और इसीलिये वह पुद्गल की पर्याय है।

उसी प्रकार पुण्य पाप नामक कर्म भी पुद्गल की पर्याय ही हैं। शका है कि कर्म पौदगलिक नहीं हो सकता ; क्योकि वह आत्मा का गुण है। ऐसा नही कहना चाहिए; क्योंकि वह आत्मा का गुण नही है। क्यों नही ऐसा पूछो तो–अमूर्त आत्मा

नुग्रहोपघाताभावात् । यथाकाशममूर्तं दिगादीनाममूर्तानां नानुग्राहकमुपघातकं च, तथैवामूर्तं कर्मामूर्तेरात्मनोरनुग्रहोपघातयो. हेतुर्न स्यात् ।

ननु पुण्यापापाख्यमदृष्टं धर्माधर्मनाम्ना प्रोच्यमानं कर्म आत्मगुण एवेति चेन्न, अदृष्टस्यात्मगुणत्वासंभवात् । यदि तद् आत्मगुणः स्यात्तदा न कदापि तस्य संसारहेतुत्वं भवेत् । न च स्वगुण एव कस्यचिद् बंधहेतुर्दृष्टः श्रुतो वा । अन्यथा न कदापि तस्य मुक्तिः संभवेत् । अतः कर्मणः पौद्गलिकत्वमेवाङ्गीकार्यं । तथैव तमश्छाया तपोद्योतादीनामपि पौद्गलिकत्वमेवेंद्रियग्राह्यत्वात् ।

का उसके द्वारा उपकार और अपकार नही हो सकता । जिस तरह अमूर्त आकाश अमूर्त दिशा वगैरह का उपकारक और अनुपकारक नही होता, उसी तरह अमूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के भला बुरा करने का कारण नही हो सकता ।

शंका—पुण्य पाप नाम से कहा जाने वाला अदृष्ट, धर्म अधर्म नाम से कहा जाने वाला कर्म आत्मा का ही गुण है—ऐसा नही हो सकता; अदृष्ट आत्मा का गुण नही हो सकता । यदि अदृष्ट आत्मा का गुण हो जाय तो वह कभी संसार का कारण न हो; क्योकि अपना गुण ही किसी के बंध का कारण न तो देखा ही गया और न सुना ही गया । इसके विपरीत जीव की कभी मुक्ति नही हो सकेगी । इसलिए कर्म को पौद्गलिक मानना ही ठीक है । इसी प्रकार अन्धकार, छाया, धूप, चादनी वगैरह भी पौद्गलिक ही है, क्योकि वे इन्द्रियो से ग्रहण किए जाते है ।

पुद्गलस्य संक्षेपतो द्वौ भेदौ, अणुस्कन्धभेदात् । प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येन अण्यन्ते शब्द्यन्ते इति अणवः । अणवो हि सूक्ष्मत्वादात्मादयः, आत्ममध्याः, आत्मान्ताश्च । स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपादिव्यापारस्कन्धनात् स्कन्धा इति सज्ञायते । यद्यपि द्वयणुकादयः केचित् स्कन्धाः ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारायोग्यास्तथापि रूढौ क्रिया क्वचित् सती उपलक्षणत्वेनाश्रीयत इति तेष्वपि स्कन्धाख्या प्रवर्तते । कथमनयोरुत्पत्तिरितिचेत्—अणवो हि भेदादेवोत्पद्यन्ते । स्कन्धास्तु केचिद् भेदात्, केचित् संघातात्, केचिच्च द्वाभ्यामेताभ्या, अन्यतो भेदेन अन्यस्य च सघातेन इति । यस्तु स्कन्धोऽचाक्षुष च भेदसघाताभ्या चाक्षुपो भवति । सत्यपि तद्भेदे अन्यसघातात् सौक्ष्म्यपरिणामपरित्यागे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति ।

पुद्गल के संक्षेप मे दो भेद हैं-अणु और स्कन्ध । जो प्रदेश मात्र है और भविष्य मे स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की शक्ति द्वारा जो शब्दायमान है वे अणु है। सूक्ष्म होने से निश्चय पूर्वक वे अणु स्वय ही आदि रूप होते है, खुद ही मध्य रूप और स्वय ही अन्त रूप होते हैं । स्थूल होने से उठाना रखना वगैरह व्यापार जिनमे संभव हो वे स्कन्ध कहे जाते है । यद्यपि द्वयणुक वगैरह कई स्कन्ध ऐसे हैं जिनमे उठाना रखना रूप व्यापार नही होता तो भी कही क्रिया के रूढ हो जाने पर उपलक्षण रूप से उसका आश्रय लेलिया जाता है इसलिए द्वयणुक वगैरह भी स्कन्ध कहे जाते हैं । अणु और स्कन्ध की उत्पत्ति किस तरह होती है-पूछा जाने पर-अणु तो भेद से ही उत्पन्न होते हैं । और स्कन्ध कई भेद से, कई सघात से और कई भेद-सघात दोनो से अर्थात् कुछ के निकलने से और कुछ के मिलने से वे बनते है । जो स्कन्ध इन्द्रियो से दिखाई नही पड़ता वह भेदसंघात से आंखो से दिखाई पडने लगता है । सूक्ष्म स्कन्ध मे से कुछ निकलने पर और अन्य के मिलने पर उसका सूक्ष्म परिणमन छूटकर स्थूलता उत्पन्न हो जाती है और तब वह दिखाई पड़ने लगता हैं ।

ननु पुद्गलाना बन्धोत्पत्तौ को हेतुरिति चेत्-एतत्स्निग्धरूक्ष-गुणादेवैतेषा वन्धो भवति । स्निग्धत्व हि चिक्कणगुणलक्षण-स्तस्य पर्याय· तद्विपरीतपरिणामो हि रूक्षत्व एप बन्धो द्वय-धिकगुणयो: पुद्गलयोर्भवति, न चैतन्न्यूनाधिकयो: । बन्धे च सति द्वयधिकगुण· स्कन्ध. स्वपारिणामिको भवति, यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीताना रेण्वादीनां स्वगुणोत्पादनात् पारिणामिक इति ।

धर्माधर्मद्रव्यसिद्धि·—धर्मद्रव्यलक्षण–जीवपुद्गलानां गतिरूप-परिणतानामुदासीनतया गतिहेतुत्व, यथा जल मत्स्यगमने ।

शका है —पुद्गलो के वध होने का क्या कारण है ? उत्तर है–स्निग्ध रूक्ष गुण होने से ही इनका बन्ध होता है । स्निग्धता चिकनाई को कहते है और रूक्षता रूखेपन को । यह बन्ध दो गुण अधिक परमाणुओ का ही होता है, कम और ज्यादा गुणवालो का नही अर्थात् एक परमाणु मे स्निग्धता या रूक्षता के दो गुण हो और दूसरे परमाणु मे स्निग्धता या रूक्षता के चार गुण हो तभी बन्ध होगा–इस तरह तीन गुण वाले का पाच गुण वाले से, चार गुण वाले का छह गुण वाले से बन्ध होगा । और बन्ध हो जाने पर दो गुण अधिक वाला परमाणु कम गुणवाले परमाणु को अपने रूप परिणमन कर लेता है । जैसे बहुत मीठा वहने वाला गुड पडे हुए मिट्टी के कणो मे अपना गुण उत्पन्न करके अपना जैसा बना लेता है ।

धर्म–अधर्म द्रव्य की सिद्धि

चलते हुए जीव और पुद्गलो को उदासीन रूप से गति मे सहायक होना धर्म द्रव्य का लक्षण है अर्थात् यह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके नही चलाता किन्तु जो जीव और पुद्गल

अधर्मद्रव्यलक्षणं च तेषां तथैव स्थितिरूपपरिणताना स्थिति-हेतुत्वं, यथा पथि गच्छतामातपक्लान्तानां छाया। न चेमौ धर्माधर्मौ तेषां गतिस्थित्योः प्रेरकौ अपितु स्वयं तथापरिणममानानां तेषामुदासीनौ हेतू। अतएव तुल्यबलत्वात्तयोर्गति स्थितिप्रतिबंधाशंकाऽपि निरस्ता।

ननु प्रमाणाभावादनुपलब्धेश्च न धर्माधर्मद्रव्यास्तित्वमिति-चेन्न अनुमानतस्तयोरस्तित्वसिद्धेः। तथाहि-विवादापन्नाः सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविगतित्वात्, एकसरः सलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत्।

स्वयं गति करते है उनको माध्यम बनकर सहायक होता है, जैसे मछली के चलने में जल, ठहरने वाले जीव और पुद्गलों को ठहरने में जो साधारण कारण होता है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे धूप से त्रस्त पथिकों को ठहरने में छाया सहकारी होती है। यह धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को चलने और ठहरने में प्रेरक कारण नहीं हैं बल्कि अपने आप चलते और ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के चलने और ठहरने में उदासीन कारण है। इसीलिए दोनों द्रव्यों के समान शक्ति-शाली होने से गति और स्थिति में बाधा पड़ने की शंका भी निर्मूल हो जाती है।

शका उठती है कि साधक प्रमाण के न होने से तथा दिखाई न पड़ने से धर्म तथा अधर्म द्रव्य का सद्भाव ही नहीं है, यह ठीक नही-अनुमान प्रमाण से उन दोनो द्रव्यों का सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे कि:—विवादास्पद गतिमान जीव और पुद्गलो का समूह साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखने वाला है, युगपद् भावी गति वाला होने से। एक सरोवर के जल का आश्रय लेने वाली अनेक मछलियों की गति की भांति अर्थात् जैसे एक सरोवर में निवास करने वाली मछलियों को

तथा सकलजीवपुद्गलस्थितय साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविस्थितित्वात् एक कुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत् । य साधारण निमित्त स धर्मोऽधर्मश्च । ताभ्या विना तद्गतिस्थितिकार्यस्यासभवात् ।

परस्पर पदार्था गतिस्थितिपरिणामहेतव इति चेन्न. परस्पराश्रयप्रसगात् । ननु पृथिव्यादय एव साधारणनिमित्तानि गतिस्थित्यो इतिचेन्न, गगनवर्तिपदार्थगतिस्थितीनाम् तदसभवात् । ननु नभ एव साधारण निमित्त तद्यस्तु इतिचेन्न, तस्यावगाहनिमित्तत्वप्रतिपादनात् । तस्यैकस्यैवानेककार्यनिमित्त-

---

उस सरोवर का जल गमन करने मे सहायक होता है, उसी भाति धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलो के गमन मे सहायक हैं । इसी तरह स्थिति स्वभाव वाले समस्त जीव और पुद्गल साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखने वाले है, युगपद् भावी स्थिति वाले होने से । एक कू डे मे रखे हुए अनेक बेर वगैरह फलो की स्थिति की तरह । जो साधारण निमित्त है वह धर्म और अधर्म है । इन दोनो द्रव्यो के विना जीव और पुद्गलो का गति और स्थिति रूप कार्य नही हो सकता ।

आपस मे पदार्थ ही गति और स्थिति रूप परिणमन मे कारण है–ऐसा मानना ठीक नही । इससे तो अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग होगा । पृथ्वी जल वगैरह ही गति और स्थिति मे साधारण कारण है ऐसा कहना भी अनुपयुक्त है । आकाश मे रहने वाले पदार्थों की गति और स्थिति मे वे कारण कैसे होगे ? आकाश को गति और स्थिति का साधारण कारण मानना भी उपयुक्त नही–उसको तो जगह देने का साधारण निमित्त कहा है । उस अकेले आकाश को ही अनेक कार्यो का कारण माना जाय तो अनेक व्यापक पदार्थो की कल्पना व्यर्थ

तायामनेकसर्वगतपदार्थपरिकल्पनानर्थक्यात् । कालादिकार्याणामपि नभोनिमित्तकत्वोपपत्तेः यदि कार्यविशेषात् कालादीनां भिन्नत्व तर्हि धर्मादीनामपि, सर्वथा विशेषाभावात् ।

यच्चोक्तमनुपलब्धेरिति तन्न, अन्यथा सर्वेषामनुपलब्धानामसिद्धिप्रसंगस्ततो धर्माधर्मद्रव्यास्तित्वसिद्धिः । इमे च धर्माधर्मद्रव्ये न पुण्यपापात्मके तत सर्वथाभिन्नात्मकत्वात् । पुण्यपाप हि पौद्गलिकमिमे चापौद्गलिके निष्क्रिये च, इमे हि लोकाकाशे सर्वव्यापके । ननु धर्माधर्मयो निष्क्रियत्वात् जीवपुद्गलानां गतिहेतुत्वं नोपपद्यते, क्रियामतामेव जलादीना मत्स्यादीना गतिहेतुत्वदर्शनात् । नैष दोषः बलाधाननिमित्तत्वात् । एते हि

हो जायगी । तब तो आकाश ही काल वगैरह द्रव्यो के कार्य का भी निमित्त हो जायगा । यदि कार्य के भिन्न होने से कालादि पदार्थ भिन्न है तो धर्म, अधर्म भी भिन्न सिद्ध होगे क्योंकि उनके भी कार्य भिन्न भिन्न हैं ।

और जो यह कहा गया कि धर्मादि द्रव्य दिखाई नही पडते अत उनका अस्तित्व नही—तब तो सम्पूर्ण ही अप्राप्त पदार्थों की सिद्धि न हो सकेगी, इसलिए धर्म तथा अधर्म द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध है । ये धर्म और अधर्म द्रव्य पुण्य और पापरूप नही है । ये उन दोनों से बिलकुल भिन्न हैं । पुण्य और पाप तो पौद्गलिक है और ये निश्चय से पुद्गल की पर्याय रूप नहीं और ये दोनो क्रिया रहित है । निश्चय से ये दोनो द्रव्य लोकाकाश में तिलो में तेल की तरह सब जगह व्यापक है । यह शंका करना कि धर्म और अधर्म द्रव्य जब निष्क्रिय हैं तो जीव और पुद्गल के गति में सहायक नही हो सकते । क्रियाशील जल वगैरह ही मछलियों के गति में सहायक होते देखे जाते है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि ये दोनों उदासीन

गतिस्थितिपरिणतानां बलाधान कुर्वंत न तु स्वय प्रेरयत ।

आकाशद्रव्यम्—यस्मिन् सर्वे पदार्था अवकाशमाप्नुवति तदाकाश । आकाश सर्वेषामाधार धर्मादयश्चाधेया । यदि धर्मादीना लोकाकाशमाधार आकाशस्य क आधार इति । आकाशस्य नास्ति कश्चनान्य आधार तस्य स्वप्रतिष्टत्वात् । यद्याकाश स्वप्रतिष्ठ धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव । अथ धर्मादीनामन्य आधार कल्प्यते आकाशस्याप्यन्य आधार कल्प्य, तथा सत्यनवस्थाप्रसग इति चेन्नाय दोप, आकाशादन्यस्याधिकपरिमाणस्य द्रव्यस्याभावात् कुत्राकाश तिष्ठेत् । सर्वतोऽनन्त

कारण हैं ये दोनो द्रव्य चलने और ठहरने वालो को चलने और ठहरने मे साधारण कारण होते है—स्वय कभी प्रेरणा नही करते ।

आकाश द्रव्य

जिसमे सब द्रव्य स्थान पाते है अर्थात् जो चेतन अचेतन सम्पूर्ण द्रव्यो को रहने के लिए जगह दे उसे आकाश कहते है आकाश सम्पूर्ण द्रव्यो का आधार है और धर्मादिक द्रव्य आधेय है । यदि यह कहा जाय कि धर्मादि द्रव्यो का आधार आकाश है तो आकाश का आधार क्या है तो उत्तर है कि आकाश का और कोई दूसरा आधार नही है, क्योकि वह अपना आधार खुद ही है । अगर आकाश का आधार आकाश ही है तो धर्मादिक द्रव्यो का आधार भी वे स्वय ही होगे । यदि धर्मादि द्रव्यो का आधार दूसरे को माना जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार मानना चाहिए और यदि ऐसा माना तो अन्वस्था दोष का प्रसग होगा—ऐसा कहना ठीक नही; वहा अन्वस्था दोष नही आता । आकाश से बडा कोई द्रव्य नही है तब आकाश कहाँ ठहरे । आकाश तो सब दिशाओ मे अनन्त

हि तत्, ततो धर्मादीनामधिकरणमाकाशमित्युच्यते। तदपि व्यवहारनयवशात्। एवंभूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। अत्राधाराधेयकल्पना साध्यं फलं त्वेतावन्मात्रमेव यद्धर्मादीनि लोकाकाशाद् बहिः न संतीति।

ननु लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावोदृष्ट. यथा कुण्डे बदरादीना। न तथाऽऽकाशं पूर्वं धर्मादीनि चोत्तरकालभावीनि अतो न व्यवहारनयापेक्षयाऽपि आधाराधेयकल्पनोपपत्तिः। नैष दोष युगपद्भाविनामप्याधाराधेयभावदर्शनात् यथा घटे रूपादयः शरीरे हस्तादय।

एतदाकाशं द्विविधं लोकाकाशमलोकाकाश च। यत्र धर्मादीनि द्रव्याणि लोक्यते तल्लोकाकाशं ततो बहिः सर्वतोऽनंतम-

---

है और इसीलिए धर्मादि द्रव्यो का आधार आकाश को कहा है। और यह कहना भी व्यवहार नय की अपेक्षा से है। एवंभूत नय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं अर्थात् अपने प्रदेशों में ही रहते है। यहा आधार आधेय कल्पना सिद्ध करना है और उसका मात्र इतना ही फल है कि धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नही है।

शंका है—ससार मे पहले और पीछे होने वालों मे आधार आधेय भाव देखा जाता है—जैसे कून्डे में बेरों का। उस तरह आकाश पहले बना हो और धर्मादिक बाद मे, ऐसा नही है; इसलिये व्यवहार नय की अपेक्षा भी इन द्रव्यों मे आधार आधेय कल्पना ठीक नहीं ठहरती। ऐसा तर्क भी ठीक नही। एक साथ पैदा होनेवालो में भी आधार आधेय भाव देखा जाता है, जैसे घट मे रूप रस वगैरह, शरीर में हाथ पांव वगैरह।

यह आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश दो रूप में विभाजित है। जहां धर्मादिक सब द्रव्य पाये जाते हैं वह लोका-

लोकाकाशं । अयं लोकालोकविभागस्तु धर्माधर्मास्तिकायसद्भावात् ज्ञातव्य । एतद्द्वयाभावे गतिस्थित्योरभावाल्लोकालोकविभागो न स्यात् । तस्मादुभयसद्भावाल्लोकालोकविभागस्थिति ।

एतानि चत्वारि अजीवद्रव्याणि पूर्वोक्त जीवद्रव्य च मिलित्वा पंचास्तिकाया प्रोच्यंते, प्रदेशबहुत्वात् काया इव काया इति । धर्माधर्मैकजीवानामसख्येयप्रदेशत्वात्, आकाशस्यानतप्रदेशत्वात् । पुद्गलाना च सख्येयाऽसंख्येयाऽनंतप्रदेशत्वादिति । प्रदेश कि लक्षणं इति चेत्—यावदाकाशं परमाणुना (अविभागिना पुद्गलांशेन) अवष्टब्धं तावत् प्रदेश इति कथ्यते । स तु प्रदेश सर्वाणुस्थानदानार्हः ।

काश है और उससे परे अर्थात् लोकाकाश के चारो ओर अनन्त अलोकाकाश है । यह लोक और अलोक का विभाग धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व से जानना चाहिए । अगर ये दोनो द्रव्य न हो तो गति स्थिति के न होने से लोक अलोक का विभाग नही होगा । इसलिए इन दोनो द्रव्यो के सद्भाव से ही लोक–अलोक का विभाग स्थिर होता है ।

ये चार अजीव द्रव्य और पहले कहा हुआ जीव द्रव्य मिलकर पाच अस्तिकाय कहे जाते हैं । शरीर की तरह बहु प्रदेशी होने से ये काय कहे जाते हैं । धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव द्रव्य के असख्यात असख्यात प्रदेश है, आकाश के अनन्त प्रदेश है और पुद्गलो के सख्यात, असख्यात और अनत प्रदेश होते है । प्रदेश का क्या लक्षण है ऐसा पूछने पर उत्तर है— जितने आकाश को पुद्गल का अविभागी अश परमाणु घेरता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते है । और वह प्रदेश सम्पूर्ण द्रव्यो के अणुओ को स्थान देने मे समर्थ होता है ।

कालद्रव्यम्—कालोहि वर्तनालक्षण: । य: स्वयं परिवर्तमा-नानां वस्तूनां परिवर्तनायां निमित्तकारणं भवति स एव काल । पदार्था: हि स्वयं परिणमंते न च कालस्तान् परिवर्तयितुं प्रेरयति अपितूदासीनतया तत्र कारणं भवति । एष कालो द्विविध परमार्थकालो व्यवहारकालश्च । व्यवहारकालोहि द्रव्यपरिवर्तन-रूप: अयमेव मुख्य: काल: । एषोऽसंख्यकालाणुरूप: तेचासंख्य-कालाणवोनिष्क्रिया: प्रत्येकमेकैकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशेऽव-स्थिता: संति रत्नराशिवत् परस्परासबद्धा: ।

व्यवहारकालस्तु परिणामादिलक्षण: । द्रव्यस्य धर्मान्तर-निवृतिधर्मान्तरोपजननरूपोऽपरिस्पन्दात्मक: पर्याय: परिणाम

काल–द्रव्य

वर्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है । स्वयमेव परिणमन-शील द्रव्यों के परिणमन में जो सहकारी कारण होता है वही काल द्रव्य है । वस्तुत. पदार्थ स्वय परिणमन करते है काल उन्हे परिणमन करने के लिए प्रेरित नहीं करता–मात्र उदासीन रूप से वह कारण होता है । यह काल दो प्रकार का है—परमार्थ काल और व्यवहार काल । परमार्थ काल द्रव्यों के परिवर्तन रूप है और यही मुख्य काल द्रव्य है । यह असंख्यात कालाणु रूप है और वे असख्यात कालाणु क्रिया रहित है और लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर रत्नो की राशि के समान एक एक स्थित है और उनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नही है ।

व्यवहार काल परिणाम आदि लक्षण वाला है । द्रव्य की ऐसी पर्याय जो कि एक धर्म की निवृत्ति रूप हो और दूसरे धर्म की जनन रूप हो ऐसी जो हलन चलन रहित पर्याय है वह परिणाम है । जैसे जीव के क्रोध वगैरह, पुद्गल के रूप

जीवस्य क्रोधादि पुद्गलस्य वर्णादि धर्माधर्माकाशानामगुरु-लघुगुणवृद्धिहानि कृत । आदि शब्देन क्रिया परत्वापरत्वे च गृह्येते । एष व्यवहारकालस्त्रेधा व्यवतिष्ठते-भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति । तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्य', भूतादि-व्यपदेशो गौण' । व्यवहारकाले च भूतादिव्यपदेशो मुख्य:, कालव्यपदेशो गौण , क्रियावद् द्रव्यापेक्षत्वात् कालकृतत्वाच्चेति ।

ननु पुद्गलाणुवत् कालाणूनामपि कथ न अस्तिकायत्वमिति चेन्न मुख्यवृत्त्या उपचारतोऽपि वा कालाणूनामस्तिकायत्वा-सभवात् । एकस्य पुद्गलाणोस्तु यद्यपि मुख्यवृत्याऽस्तिकायत्वं नास्ति तथापि नानास्कंधप्रदेशापेक्षयोपचारतस्तस्याऽस्तिकाय-त्वाभिधानं । पुद्गलाणु कदाचित् स्कध-सबद्ध आसीत् तादृशो

वगैरह तथा धर्म अधर्म आकाश के अगुरुलघु गुण के द्वारा होने वाली हानि वृद्धि वगैरह । आदि शब्द से क्रिया, परत्व और अपरत्व का ग्रहण किया जाता है । यह व्यवहार काल भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से तीन प्रकार है । परमार्थ काल मे काल कथन मुख्य है, भूत वर्तमान वगैरह कथन गौण है । और व्यवहार काल मे भूतादि कथन मुख्य है, काल कथन गौण है, क्रिया की तरह द्रव्य की अपेक्षा रखने से तथा कालकृत होने से ।

शका.—पुद्गल के अणु की तरह कालाणुओ को भी अस्ति काय क्यो नही माना ?

समाधान —यह कहना ठीक नही । कालाणुओ को न तो मुख्य रूप से और न उपचार रूप से अस्तिकायपना सभव है । एक पुद्गलाणु के यद्यपि मुख्य रूप से अस्तिकायपना नहीं है तो भी नाना स्कन्ध प्रदेशो का कारण होने की अपेक्षा से उसे उपचार रूप से अस्तिकाय कहा है । पुद्गलाणु कभी स्कन्ध

भविष्यति वा। कालाणोस्तु न तादृशोपचारसंभावना तस्य सर्वदा पृथगवस्थानात्।

ननु जीवादीनि षड्द्रव्याणि भवद्भिः प्रोक्तानि परं नैतत् परिगणनमविकलम् द्रव्यस्य पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मभेदेन नवविधत्वादितिचेन्न, पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवंति, रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्। वायुमनसो रूपादियोगाभाव इति न वाच्यं। वायुस्तावद्रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वाद् घटवत्। चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावाद्रूपाद्यभाव इति चेत् परमाण्वादिष्वपि रूपाभावः स्यात्।

मनो द्विविध, द्रव्यमनो भावमनश्च। तत्र भावमनो ज्ञान तस्यात्मगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव.। द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्

रूप था अथवा स्कन्ध रूप हो जायगा। कालाणु के तो वैसे उपचार की भी संभावना नही है; क्योंकि वह सदा अलग ही रहता है।

शंका:—आपने जीवादिक छह द्रव्य कहे है, लेकिन यह संख्या अधूरी है। पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन के भेद से द्रव्य के तो नो प्रकार हैं।

समाधान:—ऐसा नही है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन इन पाचों का तो पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है, रूप रस गन्ध स्पर्शवान् होने से। वायु और मन रूपादिमान नही है ऐसा कहना भी ठीक नहीं। वायु रूपादिमान् है स्पर्शमान् होने से घट की तरह। चक्षु वगैरह इन्द्रियों से ग्रहण में नही आता इस लिए रूपादिमान् नहीं, ऐसा मानने पर तो परमाणु वगैरह मे भी रूप का अभाव हो जायगा।

मन दो तरह का है-द्रव्यमन और भावमन। उनमें भावमन ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है। अतः भावमन का आत्मा मे अन्तर्भाव हो जाता है। और द्रव्यमन रूपादि-

पुद्गलद्रव्यविकार । रूपादिमन्मनः ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षु-रिन्द्रियवत् ।

ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, तस्य पौद्गलिकत्वात् मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः ।

ननु यथा परमाणूनां रूपादिमत्कार्यत्वदर्शनाद्रूपादिमत्व न तथा वायूना मनसा च रूपादिमत्कार्यं दृश्यते इति चेन्न तेषामपि तदुपपत्तेः । सर्वेषा परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्य-त्वाभ्युपगमात् । न च केचित् पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणव सन्ति । जातिसङ्करेणारंभदर्शनात् । दिशोऽप्याकाशे-

---

मान् होने से पुद्गलद्रव्य की पर्याय है । मन रूपादिमान् है ज्ञानोपयोग का साधन होने से चक्षु इन्द्रिय की तरह ।

शका —अमूर्त शब्द मे भी ज्ञानोपयोग कारणत्व के मौजूद होने से यह हेतु व्यभिचार दोष से दूषित है ।

समाधान.—ऐसा नही है । शब्द पुद्गल की पर्याय होने से मूर्तिमान् सिद्ध है ।

शका —जैसे परमाणुओ के रूपादिमान् कार्य के दिखाई पडने से उन्हे रूपी मान लिया जाता है वैसा वायु और मन का रूपादिमान् कार्य दिखाई नही पडता; अत वे मूर्तिक नही ?

समाधान —ऐसा नही है–वायु वगैरह के भी मूर्तिकता सिद्ध है । सम्पूर्ण परमाणुओ को सब रूपादिमान् कार्य की प्राप्ति के योग्य माना गया है । पृथ्वी जल वगैरह जाति विशेष से युक्त कोई भी परमाणु नही है । सब परमाणुओ की जाति एकसी है अर्थात् सब भूतों के परमाणु रूप रस गन्ध स्पर्शवान् है । दिशा का भी आकाश में अन्तर्भाव हो जाता है । सूर्य

ऽन्तर्भावः। आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपंक्तिषु इत इद-मिति व्यवहारोपपत्तेः।

आस्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षतत्त्वम्। एतानि पंचतत्त्वानि पूर्वोक्तजीवाजीवतत्त्वद्वयनिमित्तकानि।

ननु तत्त्वानामेतत् क्रमस्य को हेतुरितिचेत् सर्वस्य फलस्यात्माधीनत्वादादौ जीवग्रहणम्। तदुपकारार्थत्वात्तदनन्तरमजीवाभिधानं। तदुभयविषयत्वात्तदनंतरमास्रवग्रहणम्। तत्पूर्वकत्वात् तत्पश्चाद् बंधवचनम्। कृतसंवरस्य बंधाभावात् तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थंतदनन्तरं संवरोक्तिः। संवरे सति निर्जरोपपत्तेः तदनु-निर्जराभिधानम्। अन्ते प्राप्यत्वान्मोक्षस्यान्ते वचनं कृतम्। यद्यपि जीवाजीवयोः सर्वेषामेषां पञ्चानामन्तर्भावः कर्तुं शक्य-

---

वगैरह के उदयादि की अपेक्षा से आकाश प्रदेशों की पंक्तियों में यह अमुक दिशा है ऐसा व्यवहार बनता है।

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांच तत्त्व और हैं। ये पाचों तत्त्व पूर्व वर्णित जीव और अजीव तत्त्व दोनों की पर्याय रूप हैं।

शंका:—जीवादि तत्त्वों के इस क्रम का क्या कारण है?

समाधान:—सम्पूर्ण फल के आत्माधीन होने से सर्व प्रथम जीव का ग्रहण किया है। जीव का उपकारक होने से जीव के बाद अजीव का नाम है। जीव अजीव दोनों का विषय होने से उनके बाद आश्रव को लिया है। आश्रवपूर्वक होने से आश्रव के बाद बंध का कथन है। संवर के द्वारा बन्ध का अभाव है इससे बन्धका विरोधी प्रदर्शित करने के लिए बन्ध के बाद संवर को कहा है। संवर के होने पर निर्जरा होती है इसलिए संवर के बाद निर्जरा का नाम है। अन्त में प्राप्त होने से मोक्ष तत्त्व का अन्त में कथन किया है। यद्यपि इन पांचों तत्त्वों का जीव और अजीव दोनों में अन्तर्भाव किया जा सकता है तथापि

स्तथापि ससारमोक्षतद्धेतुप्रतिपत्तिप्रयोजनार्थाय पृथङ् निर्देश आवश्यक ।

तर्हि पुण्यपापयोरपि पृथग्ग्रहण कर्त्तव्यमिति न वाच्यं। पुण्यपापयोरास्रवबधभेदमात्रत्वात् । अत्रास्रवबधयोः संसारहेतुत्व सम्बरनिर्जरयोश्च मोक्षहेतुत्वमनुसधेयम् ।

आस्रवतत्त्वम्—आत्मनो येन परिणामेन पुण्यपापरूपं कर्म आस्रवति स परिणाम', तत्कर्मागमन चास्रव उच्यते । पूर्वोभावास्रव अपरश्च द्रव्यास्रव इति अयं द्विविधोऽप्यास्रव' प्रत्येकं साम्परायिकेर्यापथभेदाद् द्विविध । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः स्वोत्तरभेदविशिष्टा' परिणामा' भावास्रवत्वेन परिगण्यते तद्धेतुककर्मपुद्गलानामागमन च द्रव्यास्रवत्वेन ।

ससार और मोक्ष और उनके कारणों का ज्ञान कराने के लिए अलग कहना आवश्यक है ।

फिर तो पुण्य और पाप को भी अलग ग्रहण किया जाना चाहिए था—ऐसा नही कहना चाहिए क्योकि पुण्य और पाप आश्रव और वन्ध के ही भेद हैं । इनमें आस्रव और बन्ध को ससार का कारण और सवर निर्जरा को मोक्ष का कारण समझना चाहिए ।

आश्रव—तत्व

आत्मा के जिस परिणाम से पुण्य पाप रूप कर्म आता है वह परिणाम और ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का आना आश्रव कहलाता है । पहला भावाश्रव है और दूसरा द्रव्याश्रव । यह दोनो ही प्रकार का आश्रव साम्परायिक और ईर्यापथ के भेद से दो प्रकार का है । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग रूप परिणाम अपने अपने उत्तर भेदो के साथ भावाश्रव रूप माने जाते हैं और उनके कारण से कर्म पुद्गलों का आना द्रव्याश्रव है ।

ननु प्रत्येकशः कर्मणामास्रवकारणं किमिति चेत् ज्ञानदर्शनोपघातान्तरायमात्सर्यादीनि ज्ञानावरणदर्शनावरणास्रवकारणानि। दुःखशोकतापक्रंदनवधपरिवेदनादयोऽसद्वेद्यस्य, भूतव्रत्यनुकंपादानक्षान्तिशौचादयः सद्वेद्यस्य, धर्माद्यवर्णवादो दर्शनमोहस्य, कषायोदिततीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य, बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकायुषः, माया तैर्यग्योनस्य, अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषायुषः, सरागसंयमादयः सम्यक्त्वं च दैवस्य, मनोवाक्कायकौटिल्यमन्यथाप्रवृत्तिश्चाशुभशरीरादिनामकर्मणः, तद्विपरीतं

शंका:—प्रत्येक कर्म के आश्रव का कारण क्या है ?

समाधान:—ज्ञान और दर्शन के विषय में उपघात (प्रशस्त ज्ञान को दूषण लगाना), अंतराय (ज्ञान के प्रचार और प्रसार का विरोध करना), मात्सर्य (मेरे बराबर हो जायगा—इस अभिप्राय से किसी को न पढाना) वगैरह ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के आश्रव के कारण हैं। दुःख, शोक, ताप (पश्चात्ताप), आक्रंदन (विलाप), वध, परिवेदन (ऐसा रोना कि दूसरो को दया आजाय) आदि कारणों से असातावेदनीय कर्म का आश्रव होता है। भूत—अनुकम्पा, (प्राणीमात्र पर दया), व्रती अनुकम्पा (व्रतियों पर विशेष दया), दान, क्षान्ति (क्षमा), शौच (लोभ का त्याग) आदि भावों से साता वेदनीय कम का आश्रव होता है। धर्म वगैरह के सम्बन्ध में झूठा दोष लगाना दर्शन मोह के आश्रव का कारण है। कषायों के उदय से तीव्र परिणाम होना चारित्र मोह के आश्रव का कारण है। बहुत आरंभ करना और बहुत परिग्रह रखना नरकायु के आश्रव का कारण है। मायाचार तिर्यंचायु के आश्रव का कारण है। थोडा आरंभ करना और थोड़ा परिग्रह रखना मनुष्यायु के आश्रव का कारण है। सराग संयम (राग सहित शुभाचरण) वगैरह तथा सम्यक्त्व

शुभस्य नामकर्मण , दर्शनविशुद्धयादय. षोडशभावना: तीर्थकरत्वस्य, परनिंदात्मप्रशसादय: नीचगोत्रस्य, तद्विपर्ययो विनम्रवृत्त्युत्सेकाभावश्चोच्चगोत्रस्य,दानादिविघ्नकरण चान्तरायस्यास्रवकारणम् ।

बध-तत्त्वम्—येन चेतनभावेन कर्म बध्यते स भावबध', द्रव्यबधस्तु कर्मात्मप्रदेशाना परस्परानुप्रवेश: । द्रव्यबधस्य चत्वारो भेदा' प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाख्या । तत्र प्रकृतिप्रदेशबंधौ कायवाड्मनसा क्रियात्मकाद् योगात्, स्थित्यनुभागौ तु कषायाद्

(तत्त्वो की दृढ प्रतीति) देवायु के आश्रव का कारण है । मनोवाक्काय कौटिल्य अर्थात् मन मे और, वचन मे और, और करे कुछ और तथा अन्यथा प्रवृत्ति अर्थात् शास्त्र विरुद्ध क्रिया करने से अशुभ नाम कर्म का आश्रव होता है । मन बचन काय की सरलता तथा शास्त्र सम्मत प्रवृत्ति से शुभ नाम कर्म का आश्रव होता है । दर्शन विशुद्धि (दोष रहित निर्मल सम्यक्त्व) वगैरह सोलह कारण भावनाओ से तीर्थंकर प्रकृति का आश्रव होता है । पर की निंदा, खुद की प्रशसा आदि कारणो से नीच गोत्र का आश्रव होता है । स्व निंदा, पर प्रशंसा, विनम्र भाव और निरभिमानता उच्च गोत्र के आश्रव के कारण है । दान वगैरह में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आश्रव का कारण है ।

बन्ध-तत्त्व

आत्मा के जिस चेतन भाव से कर्म बधता है उसे भाव बन्ध कहते हैं और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशो का एक दूसरे मे मिल जाना सो द्रव्य बध है । द्रव्य बंध के प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध अनुभाग बन्ध और प्रदेश ये बन्ध चार भेद है । उनमे प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध मन वचन काय की क्रिया रूप योग से और

भवतः। वस्तुतस्तुकषाय (क्रोधादि) एव बंधकारणं तस्यैव कर्मस्थितिकर्मफलशक्तिहेतुत्वात्। कषायाभावे तु एकादशादिगुणस्थानेषु कर्मबंधाभावात्। तत्र हि केवलं योगनिमित्तकं कर्म-स्रवति न च तत्रात्मना सह कर्म तिष्ठति फलं वा किंचित् प्रददाति, अत एव स ईर्यापथ इत्युच्यते। प्रथमादिदशगुणस्थानेषु तु कषाय-सद्भावात् वास्तविको बंधः। अत एव स सांपरायिक इत्युच्यते। संपरायः-कषायः अथवा संपरायः-संसारः, संपरायः-पराभवो वा तत्प्रयोजन कर्म साम्परायिकम्।

ननु तत्त्वार्थे मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानां बंधहेतुत्वमुक्तं। द्रव्यसंग्रहादिषु च तेषां भावास्रवत्वम्। वस्तुतः एते

स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषाय से होता है। निश्चय से तो क्रोधादि कषाय ही बन्ध का कारण है क्योंकि वही कर्मों मे स्थिति पड़ने और कर्मों में विचित्र शक्ति प्रदान करने का कारण है। कषाय के न रहने पर ग्यारहवें तथा उससे आगे के गुणस्थानो मे बध नही होता। इन गुणस्थानों में योग रहने के कारण कर्म आता तो है पर वह आत्मा के साथ बंध को प्राप्त नही होता और न कोई फल देता है। इसीलिये वह ईर्यापथ आश्रव कहलाता है। प्रथम से दशवे गुणस्थान तक तो कषाय के सद्भाव से वास्तविक बध होता है और इसीलिए वह सांपरायिक कहलाता है। सम्पराय अर्थात् कषाय या संसार अथवा पराभव (तिरस्कार) है प्रयोजन जिसका उसे साम्परायिक कहते हैं।

शंका:—तत्त्वार्थ सूत्र मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्ध का कारण कहा है और द्रव्य संग्रहादि ग्रन्थों मे उनको भावाश्रव कहा है। वास्तव में ये भावाश्रव है या बन्ध के कारण है ? इसके अलावा भी कही योग और

भावास्रवा. सन्ति वंधहेतवो वा । अपि च कुत्रचिद् योगकषाय-योरेव वधहेतुत्व, कुत्रचित् मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां, कुत्र-चिच्च पूर्वोक्तपचाना वधहेतुत्वम् । एतत् सर्वं कथमितिचदित्थः—

आस्रवो हि बधहेतुर्भवति । तस्य वधपूर्वपर्यायत्वादिति भावास्रवाणा मिथ्यात्वादीना वधहेतुत्ववचने कानुपपत्तिः ? भावा स्रवा हि द्रव्यबन्धनिमित्तकारणानि, भाववधस्य चोपादानकार-णानि । यच्च बधहेतुसख्याना विभिन्नत्व तत्र तु केवल विवक्षा-वैचित्र्यमेवकारणम् । वधस्य हि चतस्रो विशेषता भवति पूर्वोक्ताः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाख्या । तत्र प्रकृतिप्रदेशबंधयो कारणं-योगः, स्थित्यनुभागयोश्च कषाय इति सक्षेपतो द्वयमेवावश्यक बधकारणम् । विस्तरतस्तु गुणस्थानक्रमापेक्षया पूर्वोक्त चतुष्टय

कषाय को ही वध का कारण कहा है तो कही मिथ्यात्व अवि-रति कषाय और योग को, और कही पर पहले कहे गए पाचो को बन्ध का कारण बताया है यह सब कैसे सगत है ?

समाधान —निश्चय से आश्रव ही वन्ध का कारण होता है । क्योकि वह बन्ध की पूर्व पर्याय है । मिथ्यात्व वगैरह भावाश्रवो को बन्ध का कारण बताने मे कोई असगति नही है । निश्चय से भावाश्रव द्रव्यबन्ध के निमित्त कारण होते है और भावबध के उपादान कारण । और जो बन्ध के कारणो की सख्या मे विभिन्नता है उसमे तो एक मात्र कारण विचित्र वर्णन शैली ही है । बध के पहले कहे गए प्रकृति, स्थिति, अनु-भाग और प्रदेश नामक चार भेद है–उनमे प्रकृति और प्रदेश बध का कारण योग है और स्थिति अनुभाग बन्ध का कषाय । इस तरह सक्षेप से कहने पर बन्ध के कारण दो ही उपयुक्त रहते हैं । और विस्तार की जहा विवक्षा होती है वहा गुण-स्थानो की अपेक्षा से पहले कहे हुए चार या पाच कारण कहे

पंच वा कारणानि भवंति। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादानां वस्तुतः कषायस्यैव भेदत्वात्।

संवरतत्त्वम्—पूर्वोक्तकर्मास्रवनिरोधे आत्मनो यः परिणामः कारणं भवति सः भावसंवरः। द्रव्यसंवरश्च तेषां कर्मास्रवाणां निरोधः। गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि भावसंवरस्य भेदाः। एतेषां समवधाने मिथ्यात्वादिभावास्रवाणामभावात्। गुप्त्यादीनां सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात् मिथ्यात्वादीनांप्रतिपक्षत्वम्। कस्मिन् गुणस्थाने कासां प्रकृतीनां संवरो भवतीति ग्रंथान्तराद् बोद्धव्यम्।

निर्जरातत्त्वम्—पूर्वसञ्चितं कर्मपुद्गलद्रव्यं येनात्मपरिणामेन यथा कालं भुक्तरसं भूत्वा विशीर्यते सा भावनिर्जरा। एषा सविपाकभावनिर्जराऽपि प्रोच्यते। यत्तु कर्मपुद्गलद्रव्यं तपसा

गए है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद वास्तव में तो कषाय के ही भेद है।

संवर तत्त्व

आत्मा का जो चेतन परिणाम कर्मों के आश्रव को रोकने में कारण है वह भाव संवर है और उन कर्मों का आते हुए रुक जाना द्रव्य संवर है। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र भाव संवर के भेद हैं। इनके सद्भाव में मिथ्यात्व वगैरह भावाश्रवों का अभाव हो जाता है। गुप्ति वगैरह सम्यक्त्व स्वरूप है अतः मिथ्यात्व वगैरह की विरोधी हैं। किस गुणस्थान में किन प्रकृतियो का संवर होता है यह दूसरे ग्रन्थो से जानना चाहिए।

निर्जरा—तत्त्व

आत्मा के जिस भावसे कर्मरूपी पुद्गल यथा समय फल देकर नष्ट होते है वह भाव निर्जरा है। यह सविपाक भाव निर्जरा

विशीर्यंते साऽविपाकभावनिर्जरा। तेषा कर्मपुद्गलानामात्मनो गलनञ्च द्रव्यनिर्जरा इति कथ्यते। यथैवागामिनां कर्मणा संवरो विपक्षस्तथैव सञ्चिताना विपक्षा निर्जरा भवति।

मोक्षतत्त्वम्—सर्वेषा कर्मणा क्षयहेतुर्यः आत्मनः परिणामः स भावमोक्ष । कर्मणामात्मनः पृथग्भवन तु द्रव्यमोक्षः। कः सर्वकर्मक्षयहेतुरितिचेत् — व्यवहारनयात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणरत्नत्रयमेव मोक्षस्य कारणम्। निश्चयनयात्तु तत्त्रयमयो निजात्मैव। यत आत्मान विहाय न कुत्राप्यन्यस्मिन् द्रव्ये रत्नत्रय वर्तते ततः तत्त्रयमय आत्मैव मोक्षस्य हेतुरनुसधेय'।

भी कहलाती है। और तप के द्वारा कर्म पुद्गल का झड़ना सो अविपाक भाव निर्जरा है। उन कर्म पुद्गलो का अपने आप झड़ना वह द्रव्य निर्जरा है। जिस प्रकार नए आने वाले कर्मों का सवर विरोधी है उसी तरह संचित कर्मों की विरोधी निर्जरा है।

मोक्ष—तत्त्व

आत्मा का जो चेतन परिणाम सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का कारण है वह भावमोक्ष है और कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है। सब कर्मों के नाश का कारण क्या है तो उत्तर है —व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है। निश्चय नय से तो रत्नत्रय स्वरूप निज आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि आत्मा को छोड़कर और किसी दूसरे द्रव्य मे रत्नत्रय नही रहता, अतः रत्नत्रय रूप आत्मा ही मोक्ष का कारण स्वीकार किया जाना चाहिए।

ननु तत्त्वार्थश्रद्धानात् समुपलभ्यमानात्मेतरविवेकरूपं सम्यग्दर्शनं तु प्रतिपन्नं, किंतु सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रयोः स्वरूपं तु न निर्ज्ञातमिति तत्स्वरूपं प्रोच्यतामितिचेच्छृणु—

संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं साकारमात्मपरस्वरूपस्य ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं। सम्यक्चारित्रं तु अशुभाद् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिर्वा व्रतसमितिगुप्तिरूपा। एतच्च व्यवहारनयमाश्रित्य, निश्चयनयात्तु सम्यग्ज्ञानिनो बाह्याभ्यंतरक्रियानिरोधसमुत्पन्नात्मशुद्धिविशेष सम्यक्चारित्रं कथ्यते। बाह्यक्रिया हि हिंसादिपञ्चपापानि, अभ्यन्तरक्रिया च योगकषायौ। मनोवाक्कायनिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। कषायस्तु क्रोधमानमायालोभात्मिका आत्मनो विभावपरिणतिः।

शंका:—तत्त्वों के स्वरूप के श्रद्धान से उत्पन्न निज परके भेद ज्ञान रूप सम्यग्दर्शन को तो समझ लिया, लेकिन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप तो जाना नहीं, अतः दोनों का स्वरूप कहिए।

उत्तर:—सुनिए। आत्मा और पर का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित विशेष ग्रहण होना-ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। और सम्यक्चारित्र अशुभ कार्यों अर्थात् पंच पापों से कषायों से दूर हटकर शुभ कार्य अर्थात् व्रत समित्ति गुप्ति रूप प्रवृत्ति करना है। यह व्यवहार नय के आश्रय से कथन है। निश्चय नय की अपेक्षा तो सम्यग्ज्ञानी जीव के बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं के रोकने से जो आत्मा की विशेष निर्मलता होती है वह सम्यक्चारित्र है। बाह्य क्रिया निश्चय से हिंसादि पांच पाप रूप है और अभ्यन्तर क्रिया योग और कषाय रूप है। मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना अर्थात् आत्म प्रदेशो में अस्थिरता होना योग है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप आत्मा की विभाव परिणति को कषाय कहते है।

ननु कर्मणामात्यतिकक्षय: कथ संभवतीतिचेदित्थ—कर्मणां विपक्षस्य रत्नत्रयम्य परमप्रकर्षात् तेषामात्यतिक: क्षय: स्यादिति। यस्य हि तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित् परमप्रकर्ष: सिद्धयति, यथोष्णस्य। तारतम्यप्रकर्षश्च कर्मणां विपक्षस्य सवरनिर्जरालक्षणस्यासयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानेपु प्रमाणतो निश्चीयते तस्मात् परमात्मनि तस्य परम प्रकर्ष सिद्धयतीति ज्ञायते। दु खादिप्रकर्षेण व्यभिचार: इति चेन्न, दु खस्य सप्तमनरकभूमौ नारकाणा परमप्रकर्षसिद्धे:, सर्वार्थसिद्धौ देवानां सांसारिकसुखपरमप्रकर्षवत्। न च क्रोधमानमायालोभाना तारतम्येन व्यभिचारसभावना। तेषामभव्येषु मिथ्यादृष्टिषु च परमप्रकर्षसिद्धे:। ज्ञानहानिप्रकर्षेणानेकान्त इति न वक्तव्य। तस्यापि

शंका—कर्मो का सर्वथा क्षय कैसे सभव है ?

समाधान.—सर्वथा क्षय इस प्रकार होता है। कर्मो के विरोधी रत्नत्रय रूप भावो का जब तीव्रतम उत्कर्ष होता है तो उन कर्मों का समूल क्षय हो जाता है। निश्चय से जिसका प्रकर्ष घटता बढ़ता है उसका कही न कही परम प्रकर्ष सिद्ध होता है जैसे गरमी का। संवर निर्जरा लक्षण रूप कर्मो के विरोधी रत्नत्रय का तरतम रूप प्रकर्ष असंयत सम्यग्दृष्टि वगैरह गुणस्थानो मे प्रमाण से निश्चित होता है; इसलिए परमात्मा मे उस रत्नत्रय का परम प्रकर्ष सिद्ध होता है। दुःख वगैरह के प्रकर्ष से व्यभिचार होगा, ऐसा नही है। दु ख का भी सातवें नरक मे नारकियो के परम प्रकर्ष सिद्ध है जिस तरह सासारिक सुख का परम प्रकर्ष सर्वार्थसिद्धि मे देवों के होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ के तारतम्य से भी व्यभिचार दोष की सभावना नही है–उनका भी अभव्यों तथा मिथ्यादृष्टियों मे परम प्रकर्ष सिद्ध है। ज्ञान की हानि के प्रकर्ष से अनेकान्त होजायगा ऐसा भी नही करना चाहिए। घटेहुए उस

क्षायोपशमिकस्य हीनमानतया प्रकृष्टप्रमाणस्य केवलिनि परमप्रकर्षसिद्धेः। क्षायिकस्य तु हानेरेवानुपलब्धेः कुतः परमप्रकर्षो येन व्यभिचारसंभावनाऽपि स्यात्।

ननु किं स्वरूपाणि कर्माणि, येषां क्षयान्मोक्ष स्यादितिचेत्-जीवं परतंत्रीकुर्वन्ति, स परतंत्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्त इति कर्माणि। तानि द्रव्यभावविकल्पेन द्वेधा। तत्र द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ मूलप्रकृतिभेदात्। उत्तरप्रकृतिभेदात्तु अष्टचत्वारिंशदुत्तरशतम्। ततोऽप्यधिकान्युत्तरोत्तरप्रकृतिभेदात्। एतानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् निगडादिवत्। न च क्रोधादिभिर्व्यभिचार तेषां जीवपरिणामाना पारतंत्र्यस्वरूप-

---

उस क्षायोपशमिक ज्ञान के भी वृद्धिगत होते हुए केवलज्ञान मे उसका परम प्रकर्ष सिद्ध है ही। क्षायिक ज्ञान की तो जब हानि ही नही होती तो परम प्रकर्ष भी कैसे हो सकता है कि जिससे व्यभिचार की सभावना हो।

यह पूछे कि कर्मो का क्या स्वरूप है जिनके क्षयसे मोक्ष होता है तो उत्तर है कि जो जीवको पराधीन करते है, या जीव जिनके द्वारा पराधीन किया जाता है उन्हें कर्म कहते है, अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि रूप भावो से जो किए जाते हैं वे कर्म हैं। वे कर्म द्रव्य और भाव भेद से २ प्रकार हैं। उनमे द्रव्य कर्म ज्ञानावरण वगैरह मूल प्रकृति रूप से आठ प्रकार का है और उत्तर प्रकृति के भेद से एक सो अड़तालीस प्रकार का है। उत्तर प्रकृतियों के भी अवान्तर भेद किए जांय तो और भी अधिक भेद हो सकते है। ये सब प्रकृतिया पुद्गल पर्याय रूप हैं, क्योंकि ये जीव की पराधीनता की कारण है-बेडी वगैरह की तरह। इसमें क्रोध वगैरह से व्यभिचार नही

त्वात् । पारतन्त्र्य हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतंत्र्य-निमित्त। न च नामगोत्रसद्वेद्यायुषामात्मस्वरूपघातित्वाभावात्-पारतन्त्र्यनिमित्तत्वासिद्धिरिति वाच्य तेषामपि जीवस्वरूपसिद्ध-त्वप्रतिबंधित्वात् पारतन्त्र्यनिमित्तत्वोपपत्ते । तथा सति कथ तेषामघातिकर्मत्वमितिचेज्जीवन्मुक्तिलक्षणपरमार्हन्त्यलक्ष्मीघा-तित्वाभावादिति ।

भावकर्माणि पुनश्चैतन्यपरिणात्मकानि । क्रोधादिभाव-कर्मणामौदयिकत्वेऽपि कथचिदात्मनोऽभिन्नत्वात् चैतन्यरूपत्वा-विरोधात् । ज्ञानरूपत्व तु तेषां विप्रतिषिद्ध ज्ञानस्यौदयिकत्वा-भावात् ।

आता; क्योकि ये क्रोधादि जीव के परिणाम परतन्त्रता स्वरूप है। निश्चय से जीव के क्रोधादि परिणाम परतन्त्र रूप है—पर-तत्रता के कारण नही। नाम, गोत्र, सातावेदनीय तथा आयु कर्म के आत्मा के स्वरूप का घात न करने से वे परतंत्रता के निमित्त नही है—ऐसा भी कहना ठीक नही। वे भी जीव के सिद्धत्व स्वरूप के बाधक हैं, अत परतत्रता मे निमित्त है ही। यदि ऐसा है तो वे अघाति कर्म कैसे कहलाते है तो उत्तर है कि वे जीवन्मुक्ति है लक्षण जिसका ऐसी परमोत्कृष्ट अर्हन्त सबन्धी—लक्ष्मी का घात नही करते, अतः अघाती कहाते है।

आत्मा के चैतन्य परिणामो को भाव कर्म कहते हैं। क्रोधादि भाव कर्मों के औदयिक होने पर भी आत्मा से कथ-चित् अभिन्न होने के कारण उन्हे चैतन्य परिणाम कहने मे कोई विरोध नही आता। उन्हें ज्ञान रूप कहना अवश्य विरोध को प्राप्त होता है; क्योकि ज्ञान औदयिक नही होता।

कर्मणां सक्षयस्तु जीवात् पृथग् भवनमेव, नतु तेषां विनाशः सतो विनाशासभवात् । "नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" इत्यभिधानादिति ।

नानाशास्त्राश्रयं प्राप्य, सप्ततत्त्वविवेचनम् ।
स्वावबोधप्रसिद्ध्यर्थं, संक्षेपात् कृतमत्र वै ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

कर्मों का क्षय होने का अर्थ कर्मों का जीव से अलग होना ही है न कि नाश होना; क्योंकि सत् का विनाश कभी नहीं होता । "असत् का कभी जन्म नहीं होता और सत् का कभी नाश नहीं होता, प्रकाश और अन्धेरा पुद्गल की पर्याय रूप ही है" ऐसा कथन है ।

"अनेक शास्त्रों का सहारा लेकर सात तत्त्वों का यह विवेचन अपने ज्ञान को प्रकट करने हेतु इस ग्रन्थ में सक्षेप में किया गया है ।

द्वितीयोऽध्यायः

आत्मनश्चरमपुरुषार्थसिद्धिर्हि जैनदर्शनस्य प्रयोजनमितिपूर्वं-मुक्त । तत्सिद्धिश्चात्मेतरविवेकसाध्या । आत्मेतरविवेकस्तु तल्ल-क्षणप्रमाणनयनिक्षेपैर्विना न कदाचिदपि सभवति । अत पदार्था-वबोधहेतूनामेतेषा चतुर्णा विवेचनमावश्यक । अत सर्वत. प्रथममत्र लक्षणस्वरूप प्रतिपाद्यते ।

लक्षणस्वरूपम्

वस्तुव्यावृत्तिज्ञानहेतुर्लक्षण, तद्द्विविधमात्मभूतमनात्मभूत च । यद् वस्तुस्वरूपात्मक तदात्मभूत, यथाऽग्नेरुष्णत्व,आत्मन-श्चेतनत्व, पुद्गलस्य रूपरसगधस्पर्शवत्वमित्यादि । उष्णत्व हि

आत्मा को मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति हो–यही जैन दर्शन का अभिमत है–ऐसा पहले कहा है । मोक्ष की प्राप्ति स्व और पर के विवेक द्वारा सभव है । स्व और पर का विवेक तो उनके लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप के बिना कभी सभव नही है । इसीलिए पदार्थो के ज्ञान के कारण इन चारो का कथन करना जरूरी है । इसलिए सबसे पहले यहा लक्षण का स्वरूप कहा जाता है ।

लक्षण का स्वरूप

बहुत सी मिली हुई वस्तुओ मे से एक वस्तु को अलग जताने का जो कारण है वह लक्षण है । वह लक्षण आत्म-भूत, अनात्म-भूत से दो प्रकार का है । जो वस्तु के स्वरूप मे मिला हो वह आत्मभूत लक्षण है, जैसे अग्नि का लक्षण

अग्नेः स्वरूपं, तदग्नि जलादिभ्यो व्यावर्तयति। तथैव चेतनत्वमात्मानमात्मेतरेभ्य· रूपादयश्च पुद्गलं पुद्गलेतरेभ्य·। यद् वस्तुस्वरूपात्मकत्वाभावेऽपीतरव्यावृत्तिज्ञानहेतुः तदनात्मभूतं यथा दण्ड पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषात्मकत्वाभावेऽपि दण्डिन दण्डीतरेभ्यो व्यावर्तयति। तथा चोक्तं "तथात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्ड इति।"

यल्लक्षण न भवति किन्तु लक्षणवदाभासते तल्लक्षणाभासं। तत् त्रिविधमव्याप्तमतिव्याप्तमसभवि चेति। ईषद्व्याप्तमित्यव्याप्तं अत्रेषदर्थस्य नञः प्रयोगात् यथानुदरा कन्या। अव्याप्तं हि लक्ष्यैकदेशवृत्ति। निखिलेषु लक्ष्येषु तस्य वृत्तेरभावात्, यथा गो शाव-

---

उष्णता, आत्मा का लक्षण चैतन्य, पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध, स्पर्शमयता। उष्णता अग्नि का स्वरूप है वह अग्नि को जल वगैरह से अलग कराता है। उसी तरह चैतन्य आत्मा को आत्मा के अलावा अन्य द्रव्यों से तथा रूपादि पुद्गल को पुद्गल के अलावा और द्रव्यो से अलग कराता है। जो वस्तु का स्वरूप तो नहीं होता पर दूसरों से भिन्न जताने का कारण होता है वह अनात्मभूत है यथा पुरुष का लक्षण दण्ड। दण्डे वाला ऐसा कहने पर निश्चय से दण्डा पुरुष का स्वभाव नही है तो भी उस दण्डी को, नही दण्डे वालों से अलग करता है। ऐसा ही कहा है "अग्नि का उष्णत्व आत्मभूत लक्षण है तथा देवदत्त का दण्ड अनात्मभूत लक्षण है।"

जो लक्षण तो नही है किन्तु लक्षण जैसा दिखता है वह लक्षणाभास कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है—अव्याप्त, अतिव्याप्त और असभव। थोडे मे रहे उसे अव्याप्त कहते है। यहा ईषत् (थोडा) अर्थ मे नञ का प्रयोग है जैसे अनुदरा कन्या। निश्चय से लक्ष्य के एक देश में रहना ही अव्याप्त है। वह पूरे लक्ष्य मे नही रहता, जैसे गाय का लक्षण सावलापन।

लेयत्व । शायलेयत्व हि वर्णविशेषो न सर्वेषु गोषु वर्तते । लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तं, यथा गो पशुत्वं । लक्ष्यमतिक्रम्य व्याप्तमित्यतिव्याप्तं, महिषादीनामपि पशुत्वात् । लक्ष्यवृत्तित्वाऽसभवित्वमसभवि, यथा नरस्य विषाणित्व । विषाणित्व हि नैकस्मिन्नपि नरि वर्तते तस्मादसभवित्वमस्य । इमे त्रयो लक्षणाभासभेदा । अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसभवास्तु न लक्षणाभासभेदा अपितु लक्षणदोषा', एतेषा भाववाचकत्वात्, पूर्वेषा तु विशेषणत्वात् । अयञ्च केवल शब्दभेदोऽर्थस्तु न भिद्यते ।

प्रमाणसामान्यस्वरूपम्

प्रमाण सम्यग्ज्ञान । तत्तु स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक प्रमाणत्वात् । यज्ज्ञान स्वमपूर्वमर्थञ्च निश्चयात्मकरूपेण विजानाति

सावलापन रग विशेष है—वह सब गायो मे नही रहता । जो लक्ष्य मे भी रहे और अलक्ष्य मे भी रहे वह अतिव्याप्त कहलाता है, जैसे गाय का लक्षण पशुपना । लक्ष्य का उल्लघन करके ही रहे उसे अतिव्याप्त कहते है, भैस वगैरह के भी पशु होने से । लक्ष्य मे रहे ही नही उसे असभवी कहते है, जैसे मनुष्य का लक्षण सीगवान होना । सीगवान होना यह एक भी पुरुष मे नही रहता, इसलिए यह असभवी है । ये तीन लक्षणाभास के भेद है । शका—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव तो लक्षणाभास के भेद नही है बल्कि लक्षण के दोष है, इनके भाव वाचक होने से, और पहले वालो के विशेषण होने से । समाधान—यह केवल शब्द भेद है अर्थ मे कोई भेद नही है ।

प्रमाण का सामान्य स्वरूप

सम्यक्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । वह ज्ञान स्व और अपूर्व पदार्थ का निश्चयात्मक होता है प्रमाण होने से । जो ज्ञान

तद्धि प्रमाणं भवति। प्रमितिक्रिया प्रति तस्यैव करणत्वात्। प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येनेति-व्युत्पत्तेः। प्रमितिक्रिया हि अज्ञाननाशात्मिका। अज्ञानं तु ज्ञान-मन्तरेण न विनाशयितुं शक्यते, ततस्तस्यैव तत्र करणत्वोचित-त्वात्। यथांधकारनाशने प्रदीपो हेतुस्तस्य तद्विरोधित्वात्, तथाऽज्ञाननिरासे ज्ञानं। तथाचाज्ञानरूपः सन्निकर्षः, जडानीन्द्रियाणि, अन्ये च प्रमितेः परम्पराहेतवो न प्रमाणानि, तेषा तत्साक्षाद्धेतु-स्वाभावात्। साधकविशेषस्य अतिशयवतः करणत्वात्। साधक-तमं करणमिति जैनेंद्रव्याकरणे प्रोक्तत्वात्।

अपने आपको और अग्रहीत पदार्थ को निश्चित रूप से जानता है वह नियम से प्रमाण होता है। जानने रूप क्रिया के प्रति वह ज्ञान ही करण होता है। प्रकर्ष रूप से अर्थात् संशयादि दोषों से रहित वस्तु का स्वरूप जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है। प्रमाण की यह व्युत्पत्ति है। वास्तव में जानने रूप क्रिया अज्ञान की नाशक है। अज्ञान ज्ञान के बिना कभी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान को ही करण मानना उचित है। जैसे अंधकार का नाश करने में प्रदीप कारण है क्योकि वही अंधकार का विरोधी है, उसी तरह अज्ञान का नाश करने मे ज्ञान कारण है। इस तरह अज्ञान रूप सन्निकर्ष, जड़ इन्द्रिया तथा और भी जो जानने के परम्परा कारण है वे प्रमाण नही है, क्योकि वे ज्ञान के साक्षात् कारण नही है। करण वही हो सकता है जो अतिशय रूप से यथार्थ ज्ञान का साधक हो। जो उत्कृष्ट साधक हो वही करण होता है अर्थात् प्रमा नाम वस्तु के यथार्थ ज्ञान का है उसकी उत्पत्ति मे जो विशिष्ट कारण होता है वह करण कहलाता है। ऐसा जैनेन्द्र व्याकरण में कहा है।

ननु चक्षुषा प्रमिणोमि, धूमेनानुमिनोमि, शब्देन विजानामि, गवोपमिनोमीत्यादौ ज्ञानातिरिक्तानामपि प्रमितिकरणत्वं दृश्यते, तथा च तेषामपि प्रमाणत्वाभ्युपगमे को दोष. इति चेन्न, तेषा प्रमितौ ज्ञानेन व्यवहितत्वात् । औपचारिका हीमे प्रयोगा अन्न वै प्राणा , धन वै प्राणा , आयुर्वैघृतमित्यादिवत् । चक्षुरादयो हि तत्र सहकारिण न तु प्रमाणानि, तत प्रमितिक्रिया प्रति तेषा साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्व । तदुक्त प्रमाणनिर्णये "इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्व यत् प्रमितिक्रिया प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम्" ।

चक्षुरादयो ह्यचेतना न ते स्वावभासनसमर्था । तत कथ तेषा परावभासकत्व स्यात् । ततोऽस्वसविदिताना स्वावभासनेऽ

शका —आख से देखता हूँ, धूम से अनुमान करता हू, शब्द से जानता हू, इन्द्रिय से प्रमाणित करता हू-इत्यादि वाक्यो मे ज्ञान के अलावा और भी जानने रूप क्रिया के करण देखे जाते हैं, अत उन्हे भी प्रमाण मान लेने मे क्या आपत्ति है ?

समाधान —ऐसा नही है, जानने रूप क्रिया मे उनके ज्ञान से बाधा आती है । अन्न ही प्राण है, धन ही प्राण है, घृत ही आयु है-इत्यादि की तरह आख से देखना वगैरह प्रयोग उपचार से है । प्रमिति रूप क्रिया मे चक्षु वगैरह सहकारी कारण जरूर है पर प्रमाण नही, इसलिये प्रमिति रूप क्रिया के प्रति चक्षु वगैरह को साधकतम न होने से प्रमाणता नही है । प्रमाण निर्णय मे ऐसा ही कहा है वही सच्चा प्रमाण है जो जानने रूप क्रिया के प्रति साधकतम करण हो ।

वस्तुत चक्षु वगैरह अचेतन है, वे अपने स्वरूप को जानने मे समर्थ नही, फिर वे दूसरो का ज्ञान कैसे करा सकेंगे ? इसलिए अपने आप को नही जानने वाले और अपना ज्ञान कराने मे असमर्थ उन चक्षु वगैरह को दूसरो का ज्ञान कराना

शक्तानां तेषां परावभासकत्वायोगः। ज्ञानं तु स्वपरावभासकं स्वानुभवसिद्धं। तथा च स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पकमगृहीतग्राहकं सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे निवर्तयत् प्रमाणमिति। यत्तु स्वासंवेदकं निर्विकल्पकं गृहीतग्राहकमज्ञानरूपञ्च न तत् कथंचिद् प्रमाण, तथा चोक्तं न्यायसूत्रकारेण माणिक्यनंदिना-"अस्वसंविदितगृहीतार्थ-दर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः"। अत्रादिपदेन विपर्ययानध्यवसाययोरपि ग्रहणम्।

संशयो हि प्रमाणासिद्धानेककोटिस्पर्शात्मकः प्रत्ययः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। अस्ति च नास्ति च घटः नित्यश्चानित्यश्चात्मेत्यादौ अनेककोटिस्पर्शात्मकप्रत्ययत्वे सत्यपि प्रमाणसिद्ध-

---

संभव नहीं। ज्ञान तो अपना और पर का ज्ञान कराने वाला है यह अपने अपने अनुभव से सिद्ध है। इसलिए स्व तथा पर के जनाने में समर्थ, सविकल्पक रूप से अपूर्व पदार्थ को जानने वाला सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि वही पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान को दूर करता है। और जो अपने को नहीं जानने वाला, निर्विकल्पक, गृहीत पदार्थ को ग्रहण करने वाला और अज्ञान रूप है-वह किसी भी तरह प्रमाण नहीं है। ऐसा ही न्याय सूत्रके रचयिता माणिक्य नंदी ने कहा है—अपने आपको नहीं जानने वाले, गृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाले संशय वगैरह प्रमाणाभास हैं। यहा आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय का भी ग्रहण है।

प्रमाण विरुद्ध अनेक कोटि स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते है, जैसे अन्धकार में यह ठूँठ है या पुरुष है। घड़ा है भी और नहीं भी, आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी इत्यादि वाक्यों में अनेक कोटि स्पर्शात्मक ज्ञान होने पर भी प्रमाण सिद्ध होने से संशय नही है। जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें वैसा

त्वान्न संशय । तद्भिन्ने वस्तुनि तत्प्रत्ययो विपर्ययः यथा शुक्तिकाया रजतमितिज्ञानं, अनात्मन्यात्मेतिज्ञानं वा । वस्त्वनुल्लेखी किमित्यालोचनमात्रप्रत्ययोऽनध्यवसाय यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् ।

स्वतस्त्व - परतस्त्व—वादः

अथैतादृशलक्षणप्रमाणस्य यत् प्रामाण्य तस्य कथमुत्पत्तिः स्वत परतो वा ? प्रामाण्योत्पत्ति परत एव विशिष्टकार्यस्य विशिष्टकारणप्रभवत्वात् । ज्ञान हि सामान्य सम्यङ् मिथ्याज्ञानयोरुभयोरपि ज्ञानत्वात् । सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान तु तस्य विशेष । अत ज्ञानसामान्यस्य यान्युत्पत्तिकारणानि न तानि एव केवल

ज्ञान होना विपर्यय कहा जाता है—जैसे सीप मे चादी का ज्ञान होना, पुद्गल मे आत्मा का ज्ञान होना । वस्तु का नाम न बताते हुए कुछ है केवल इतना जानने को अनध्यवसाय जानना चाहिए जैसे मार्ग मे गमन करते हुये तृण आदि के स्पर्श का ज्ञान होना ।

स्वतस्त्व परतस्त्व वाद

अब सम्यग्ज्ञान है लक्षण जिसका ऐसे प्रमाण की जो प्रमाणता (प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप मे जानता है उसका उसी रूप मे प्राप्त होना यानी प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना) है । उसकी उत्पत्ति अपने से होती है या पर से ? प्रामाण्य की उत्पत्ति पर से ही होती है क्योकि, विशेष कार्य विशेष कारणो से ही पैदा होता है । वास्तव मे ज्ञान तो सामान्य है क्योकि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनो ही ज्ञान रूप है । सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान तो ज्ञान की विशेषता है । इसलिए ज्ञान सामान्य के जो उत्पत्ति के कारण है वे ही सिर्फ विशेष ज्ञान के नही हो सकते । सम्यग्ज्ञान प्रमाण है—मिथ्या-

तद्विशेषस्य। प्रमाणाप्रमाणरूपयो तद्विशेषयो सम्यङ् मिथ्या-ज्ञानयोः भिन्नकारणप्रभवत्वात्। ज्ञानसामान्यस्य कारणानि तु प्रत्यक्षस्येन्द्रियादीनि, अनुमानस्य लिङ्गादि, शाब्दस्य शब्दादि। प्रमाणात्मकप्रत्यक्षस्य तु न केवलमिन्द्रियाणि; किंतु तत्स्थाः नैर्मल्यादयो गुणा। तथैव प्रमाणभूतस्यानुमानस्य न परं लिङ्गं, किंतु लिङ्गस्याविनाभावः। एव प्रमाणात्मकशाब्द-ज्ञानस्य शब्द एव केवलो न कारणमपितु आप्तोक्तत्वरूपो गुण। तथैव मिथ्याज्ञानरूपस्याप्रामाण्यस्य हेतवो दोषाः। तथा च यथाऽप्रामाण्य परत उत्पद्यते तथा प्रामाण्यमपि। न खलु पट-सामान्यसामग्री रक्तपटे हेतुस्तथा न ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाण-ज्ञाने हेतुः। तथा च प्रामाण्य विज्ञानकारणातिरिक्तकारण-

---

ज्ञान अप्रमाण है, अतः दोनों की उत्पत्ति के कारण भी भिन्न ही हैं। ज्ञान सामान्य के कारण तो प्रत्यक्ष के तो इन्द्रिय वगैरह हैं अनुमान के लिंग वगैरह है और आगम के शब्द वगैरह हैं। लेकिन प्रमाण रूप प्रत्यक्ष के तो सिर्फ इन्द्रियाँ वगैरह नही, किन्तु उसमे रहने वाले निर्मलता आदि गुण है। इसी तरह प्रमाण रूप अनुमान का दूसरा हेतु नही अपितु हेतु का अविना-भावी होना है। इसी तरह प्रमाण रूप आगम ज्ञान का केवल शब्द ही कारण नही बल्कि आप्त के द्वारा कहा हुआ रूप गुण है। उसी प्रकार मिथ्याज्ञान रूप अप्रामाण्य का कारण दोष है। इसलिए जिस प्रकार अप्रामाण्य पर से उत्पन्न होता है उसी तरह प्रामाण्य भी। वास्तव मे कपड़े की सामान्य सामग्री द्वारा लाल कपड़े का निर्माण नही हो सकता, वैसे ही ज्ञान सामान्य रूप सामग्री प्रमाण ज्ञान का कारण नही है। जैसे कि–प्रामाण्य विज्ञान रूप कारण के अलावा कारण से पैदा होता है भिन्न

जन्य तद्भिन्नकार्यत्वात् अप्रामाण्यवत्। अथवा ज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वात् घटवस्त्रवत्। ततः स्थित प्रामाण्य परापेक्षमेवोत्पत्तौ।

कथ तस्य ज्ञप्तिरितिचेत् अभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्ते तु परत। परिचितस्वग्रामतडागजलादिरभ्यस्त'। तदितरोऽनभ्यस्त। अभ्यस्तविषये प्रामाण्यनिश्चयो न परापेक्ष, न हि तत्र प्रेक्षावतां निर्णयाकाक्षण। तत्र हि जलज्ञानानन्तर स्वत एव प्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीते।

अनभ्यस्तविषये तु प्रामाण्यनिश्चय परापेक्ष एव। तस्य हि तदेकविषयात् सवादकात् ज्ञानान्तराद्वा, अर्थक्रियानिर्भासाद्वा,

---

कार्य होने से अप्रामाण्य की तरह। अथवा ज्ञान और भिन्न-भिन्न कारणो से पैदा होने वाले है भिन्न-भिन्न कार्य होने से, घर और वस्त्र की तरह। इसलिए सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य उत्पत्ति मे पर की अपेक्षा रखता ही है अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति पर से ही होती है।

प्रामाण्य की ज्ञप्ति (जानना) कैसे होती है? ऐसा पूछने पर उत्तर है कि ज्ञप्ति अभ्यास दशा में स्वत' और अनभ्यास दशा मे ज्ञानान्तर से यानी परत हुआ करती है। अपने गाव के तालाब के जल का परिचय होने से वह अभ्यस्त कहलाता है किन्तु अपरिचित जल अनभ्यस्त होता है। अभ्यस्त विषय में प्रामाण्य का निश्चय दूसरे की अपेक्षा नही रखता-निश्चय से वहा देखने वालो के निर्णय की अपेक्षा नही होती। वहा तो जलज्ञान के बाद अपने आप हो प्रवृति, प्राप्ति और प्रतीति हो जाती है।

लेकिन अनभ्यस्त पदार्थ मे प्रामाण्य का निश्चय परत' ही होता है। निश्चय पूर्वक जो भी अपरिचित पदार्थ है उस पदार्थ सम्बन्धी तर्क वितर्क से, अर्थ क्रिया के प्रतिभासित होने से और

अविनाभूतार्थदर्शनाद्वा प्रामाण्य निश्चीयते। तेषां च स्वत प्रामाण्यनिश्चयान्नानवस्थावकाश.। एतच्च सर्वं प्रत्यक्षविषये। अनुमाने तु सर्वस्मिन्नपि स्वत एव प्रामाण्यमव्यभिचारलिङ्ग-समुत्थत्वात्। शाब्दे तु प्रमाणे दृष्टार्थेऽर्थाव्यभिचारस्य दर्शनात् सवादाद्यधीन: परत: प्रामाण्यनिश्चय:। अदृष्टार्थे तु सवाद-मन्तरेणापि आप्तोक्तत्वादेव प्रामाण्यनिश्चय: इति। तत· प्रामाण्यस्य ज्ञप्ति· कथंचित् स्वत: कथचित् परत इति श्रद्धा-तव्यमिति।

प्रमाणविशेषप्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रमाणसामान्यस्वरूपमभिधाय तद्विशेषस्वरूपविवेचनमधुना प्रारभ्यते। तत् प्रमाण द्विविध, प्रत्यक्ष परोक्ष च। तत्रविशद-

---

उस पदार्थ से अविनाभावी पदार्थ के देखने रूप ज्ञानान्तर से हा उसके प्रामाण्य का निश्चय होता है। और उन ज्ञानान्तरों के स्वत प्रमाण होने से अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं आता। यह सम्पूर्ण कथन तो प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में हुआ। सम्पूर्ण अनुमानो मे तो प्रामाण्य का निश्चय स्वत: होता है क्योकि वे अव्यभिचारी हेतु से पैदा होते है। और आगम प्रमाण मे तो जो पदार्थ दृष्टिगोचर है वे उसी रूप दिखाई पडने से तथा तर्क वितर्क के आधीन होने से उनके प्रामाण्य का निश्चय परत होता है। और जो पदार्थ अदृष्ट है उनमे तो तर्क वितर्क की अपेक्षा के बिना ही सच्चे देव के द्वारा कहे जाने से ही प्रामाण्य का निश्चय होना है। इसलिए प्रामाण्य का ज्ञान कथचित् स्वत· और कथचित् परत होता है-ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष का स्वरूप

प्रमाण सामान्य का स्वरूप कहकर अब प्रमाण विशेष का स्वरूप विवेचन किया जाता है। वह प्रमाण दो प्रकार है,

ज्ञानात्मक प्रत्यक्ष। अग्निरस्तीति आप्तवचनात्, धूमादिलिङ्गा-च्चोत्पन्नाज्ज्ञानादयमग्निरिति प्रत्यक्षस्य नैर्मल्य स्यानुभव-सिद्धम्। यस्मिन् ज्ञाने ज्ञानातरस्य व्यवधान न भवति, विशेष-वत्तया प्रतिभासन च भवति तत् प्रत्यक्षमित्यर्थ.। तत् द्विविध साव्यवहारिक पारमार्थिक च। यज्ज्ञान देशतो विशदमीषन्निर्मल तत् साव्यवहारिक प्रत्यक्षम्। समीचीनो व्यवहार सव्यवहार, स प्रयोजनमस्य तत् साव्यवहारिकमैन्द्रियकप्रत्यक्षमित्यर्थ.। तस्यावग्रहेहाऽवायधारणा इति चत्वारो भेदा। तत्र विषय-विषयिसन्निपातसमयानतरमाद्यग्रहणमवग्रह, यथा चक्षुषा शुक्ल रूपमिति ग्रहणम्। अवग्रहगृहीतेऽर्थेतद्विशेषाकांक्षणमीहा यथा शुक्ल रूपं बलाका भवेत्। विशेषनिदर्शनाद् याथात्म्या-

---

प्रत्यक्ष और परोक्ष। वहा विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। अग्नि है– ऐसे आप्त मनुष्य के कहने से और धूम वगैरह हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान ज्ञान से यह अग्नि है, इस तरह प्रत्यक्ष की निर्मलता अपने अनुभव से सिद्ध है। जिस ज्ञान मे दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नही होती, और विशेष रूप से प्रतिभास होता है वह प्रत्यक्ष है। वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, साव्यवहारिक और पारमार्थिक। जो ज्ञान एक देश निर्मल होता है या थोडा निर्मल होता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। उत्तम व्यवहार को सव्यवहार कहते हैं और वह है प्रयोजन जिसका उसे साव्य-वहारिक या इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते है। उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद हैं। वहा पदार्थ और इन्द्रिय के योग्य देश मे स्थित होने के समय के बाद जो पहला ज्ञान होता है वह अवग्रह होता है, जैसे आख से सफेद रग का ज्ञान होना। अवग्रह के द्वारा जाने हुये पदार्थ के सम्बन्ध मे विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं, जैसे सफेद रग की बगुलो की पक्ति होनी चाहिए। विशेप चिन्हो से निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं, जैसे ऊंचे उठने, नीचे गिरने, पखो के फडफडाने आदि

वगमनमवायः, यथा—उत्पतननिपतनपक्षविक्षेपादिभिर्वलाकैवेयं न पताकेति। अवेतस्य कालांतरेऽविस्मरणकारणं धारणा, यथा सैवेयं वलाका पूर्वाह्ने यामहमद्राक्षमिति।

एतदवग्रहादिज्ञानचतुष्टयस्य निदर्शनान्तरमपीद स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थं ज्ञातव्यम्—यथायं पुरुष इति अवग्रहः, ततः पुरुष इति निश्चितेऽर्थे किमयं दाक्षिणात्य उतौदीच्य इति संशये सति दाक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं ज्ञानं जायते। पुन. भाषादिविशेषनिर्ज्ञानाद् दाक्षिणात्य एवाऽयमिति अवायः, एतदेव स्मृतिजननसमर्थं ज्ञानं धारणा प्रोच्यते यद्वशात् स दाक्षिणात्य इत्येव स्मरणं जायते।

से यह बगुलों की पक्ति ही है ध्वजा नही। अवाय के द्वारा जाने हुये को कालान्तर मे न भूलने के कारण को धारणा कहते है, जैसे यह वही बगुलो की पक्ति है जिसको मैंने कल देखा था।

इन अवग्रहादि चारों ज्ञानो के उदाहरण कह देने पर भी और स्पष्ट ज्ञान करने के लिए उदाहरण है— जैसे यह पुरुष है यह अवग्रह है। उसके बाद यह पुरुष है इस निश्चित पदार्थ में यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी, ऐसा संशय होने पर यह दक्षिणी होना चाहिए। संशय का निराकरण करने के लिये ईहा नामक ज्ञान पैदा होता है। फिर बोलचाल वेशभूषा वगैरह चिन्हो से यह दक्षिणी ही है—यह अवाय ज्ञान होता है। यही अवाय जब कालान्तर में स्मृति का उत्पादन करने में समर्थ होता है तो धारणा ज्ञान कहा जाता है जिसकी वजह से वह दक्षिणी ऐसा स्मरण होता है।

ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतविपयग्राहकत्वादेतेषा धारावाहिकवद-प्रामाण्यप्रसग इति चेन्न विषयभेदेनागृहीतग्राहकत्वात् एतदव-ग्रहादिचतुष्टय यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते। यदा पुनरनिन्द्रियेण (मनसा) तदाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षमभिधीयते।

इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि, अतीन्द्रिय तु मन तद्द्वयहेतुकमिद लोकसव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात् साव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्युच्यते। तदुक्त "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशत साव्यवहारिक"। इद चामुख्यप्रत्यक्षमुपचारसिद्धत्वात् वस्तुतस्तु परोक्षमेव, इन्द्रियजन्यत्वेन मतिज्ञानत्वात्।

ननु प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वमेव कथ, अर्थालोक-

---

शका—अवग्रहादि ज्ञान पहले पहले ज्ञान के द्वारा गृहीत पदार्थ को ग्रहण करते है अत धारावाहिक ज्ञान की तरह ये भी अप्रमाण है।

समाधान—ऐसा नही है। भिन्न विषय होने से ये गृहीत ग्राही नही अपितु अग्रहीत-ग्राही ही है। ये अवग्रहादि चारो जब इन्द्रिय से पैदा होते है तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाते है। और जब मन से पैदा होते है तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहे जाते है।

इन्द्रिया स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण है और अनिन्द्रिय मन है, इन दोनो के निमित्त से लोक व्यवहार मे यह प्रत्यक्ष प्रसिद्ध होने से इसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया गया है। यही कहा है "इन्द्रिय और मन के निमित्त से पैदा होने वाला एक देश निर्मल ज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।" यह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष उपचार सिद्ध होने से मुख्य प्रत्यक्ष नही है, वास्तव मे तो यह परोक्ष ही है, इन्द्रियो से पैदा होने के कारण मतिज्ञान रूप होने से।

शका—प्रत्यक्ष का कारण इन्द्रिय और मन को ही क्यो

योरपि तस्य कारणत्वादिति चेन्न, अर्थालोकयोर्ज्ञानकारणत्वानुपपत्तेः। अर्थाभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः। आलोकस्यापि न ज्ञानकारणत्वं, तदन्वयव्यतिरेकाभावात्। आलोकसत्वेऽपि घूकादीनां ज्ञानोत्पत्त्यभावात्। तदभावेऽपि च रात्रौ नक्तंचरादीना ज्ञानोत्पत्तेः।

सर्वथा विशदं पारमार्थिक प्रत्यक्षं। यज्ज्ञान साकल्येन स्पष्टं तत्पारमार्थिकं प्रत्यक्ष तदेव मुख्यप्रत्यक्षमिति निगद्यते। तद् द्विविधं सकल विकलं च। तत्र पुद्गलद्रव्यपर्यायविषयं विकल। तदपि द्विविधमवधिज्ञान मन.पर्ययज्ञानं च। यद् द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादया-पुद्गल (रूपि) द्रव्यस्य कांश्चित्

बताया जब कि पदार्थ और प्रकाश भी उसके कारण है ?

समाधान—ऐसा नही हो सकता। पदार्थ और प्रकाश को ज्ञान का कारण नही माना जा सकता। क्योंकि पदार्थ के न होने पर भी बालों में मच्छरादि का ज्ञान होता है। प्रकाश भी ज्ञान का कारण नही क्योंकि ज्ञान के साथ उसका अन्वय व्यतिरेक नही है। प्रकाश के होने पर भी उल्लू वगैरह को ज्ञान नही होता और प्रकाश के न होने पर भी रात्रि में बिल्ली, उल्लू वगैरह को ज्ञान होता है।

पूर्ण निर्मल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है और वही मुख्य प्रत्यक्ष कहा जाता है। वह दो प्रकार का है सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। उनमें जो पुद्गल द्रव्य की पर्याय को विशद करता है वह विकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का है-अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा से पुद्गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को जानता है वह अवधिज्ञान कहा जाता है-मर्यादा पूर्वक जानने

पर्यायान् विजानाति तदवधिज्ञान मर्यादारूपत्वात् । यत् पुन परमनोगतपुद्गलद्रव्यविषय तन्मन पर्ययज्ञानं । एतच्च ज्ञानद्वय स्वस्वावरणवीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाद् समुत्पद्यते । पूर्वोक्तं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमपि स्वावरणक्षयोपशमात् सजायते । सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकल । तच्च ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्टयनिरवशेषक्षयादाविर्भूत केवलज्ञानमेव लोकालोकप्रकाशक, "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" इति तत्त्वार्थसूत्रे प्ररूपणात् । तदेवमवधिमन पर्ययकेवलज्ञानत्रय सर्वतो वैशद्यमात्ममात्रसापेक्षत्वात् ।

ननु अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रिय तत्प्रतीत्य यदुत्पद्यते तग्यैव प्रत्यक्षत्वमुचित नान्यस्य इति, तदसत्, आत्ममात्रसापे-

---

से । और जो दूसरो के मन में स्थित भावो को जानता है वह मन पर्ययज्ञान है । ये दोनो ज्ञान अपने अपने आवरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं । पहले कहा गया साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी अपने आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । जो सम्पूर्ण द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों को जानता है वह सकल प्रत्यक्ष कहलाता है । इस प्रकार ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से पैदा होने वाला केवलज्ञान ही लोक और अलोक का प्रकाशक है । "सव द्रव्यो की सम्पूर्ण पर्यायो को केवलज्ञान विषय करता है"– ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र मे निरूपण किया गया है । अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्ण निर्मल होते है क्योकि वे मात्र आत्मा से पैदा होते है ।

शका —अक्ष नाम चक्षु वगैरह इन्द्रियो का है, उनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहा जाना उचित है, अन्य को नही ।

क्षाणामिन्द्रियनिरपेक्षाणामप्यवधिमनःपर्ययकेवलानां प्रत्यक्षत्वाविरोधात्। इन्द्रियजन्यत्वाभावेऽपि तेषां विशदप्रतिभासात्मकत्वात् प्रत्यक्षत्वं। न खलु इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वप्रजोकमपि तु विशदप्रतिभासात्मकत्वं।

कथं पुनरेतेषां प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वमिति चेत् रूढित इति। अथवा अश्नुते अक्ष्णोति व्याप्नोति वा सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानिति अक्ष आत्मा तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति। तर्हि इन्द्रियजन्यस्याप्रत्यक्षत्वं स्यात् इति चेन्न, इन्द्रियजन्यज्ञानस्य वस्तुतोऽप्रत्यक्षत्वात्, उपचारत एव तस्य प्रत्यक्षत्वस्वीकारादित्युक्तमेव। उपचारमूलं तु तस्य देशतो विशदत्वमिति। एतेनाक्षेभ्यः इन्द्रियेभ्य परावृत्तं परोक्षमित्यपि निरस्तं; अवैश-

---

उत्तर.—ऐसा कहना ठीक नहीं, मात्र आत्मा की अपेक्षा रखने वाले एवं इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानो के प्रत्यक्ष होने में कोई विरोध नहीं है। इन्द्रियों से पैदा न होने पर भी उनको निर्मल प्रतिभास स्वरूप होने से प्रत्यक्षता है ही। वास्तव मे इन्द्रियों से पैदा होना प्रत्यक्षता नहीं बल्कि ज्ञान का निर्मल होना है।

इन ज्ञानो को प्रत्यक्ष शब्द से कैसे कहा गया तो उत्तर है कि रूढि से। अथवा सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र काल भावों में जो व्याप्त हो वह अक्ष अर्थात् आत्मा है और मात्र उसकी अपेक्षा जो उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष है। ऐसी मान्यता से इन्द्रियो से पैदा होने वाला ज्ञान अप्रत्यक्ष हो जायगा, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान वास्तव मे तो अप्रत्यक्ष ही होता है, उसे तो व्यवहार से ही प्रत्यक्ष माना है—ऐसा पहले कह दिया है। और व्यवहार से मानने का कारण भी उसकी आंशिक निर्मलता है। ऐसा सिद्ध होने से इन्द्रियों से अलावा जो ज्ञान होता है 'वह परोक्ष

द्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात् । नन्वतीन्द्रियप्रत्यक्षकल्पनाऽसभवेति चेन्न, अर्हतोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य संभवात् । तस्य सर्वज्ञत्वात् । नन्वियमपि तादृश्येव कल्पना, सर्वज्ञत्वासभवादिति न वाच्य, अनुमानत सर्वज्ञत्वसिद्धे । तथाहि कश्चित् पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबधप्रत्ययत्वात् । यो यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबधप्रत्यय स तत्साक्षात्कारि, यथाऽपगततिमिर लोचन रूपसाक्षात्कारीत्यनुमानेन सर्वज्ञत्वसिद्धे । सर्वज्ञसामान्यसाधनानन्तर–अर्हन् सर्वज्ञो निर्दोषत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोपो यथा रथ्यापुरुष इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेनार्हत सर्वज्ञत्व साध्यते ।

है–इसका भी खडन हो जाता है, क्योकि निर्मल नही होना ही परोक्ष का लक्षण है । शकाकार कहता है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की कल्पना असभव है, पर यह कहना ठीक नही, क्योकि अर्हन्त भगवान के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है–उसके सर्वज्ञ होने से । फिर शकाकार कहता है कि यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जैसी ही कल्पना है, क्योकि सर्वज्ञ होना असभव है, ऐसा कहना भी अयुक्त है । अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । जैसे कि कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाला है, उनके ग्रहण करने का स्वभाव होते हुये बाधक कारणो का नाश हो जाने से । जिसके ग्रहण करने का स्वभाव होते हुए बाधक कारण का नाश हो जाता है वह उसका साक्षात्कार करता है, जैसे अधकार के विनाश होने पर चक्षु रूप का प्रत्यक्ष करती है । इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि हो जाने पर अर्हन्त सर्वज्ञ है, दोष रहित होने से । जो सर्वज्ञ नही होता वह निर्दोष नही होता जैसे गली में रहने वाला मनुष्य । इस तरह केवल व्यतिरेकी अनुमान से अर्हन्त भगवान सर्वज्ञ सिद्ध होते है । अर्हन्त भगवान दोप रहित हैं,

कथं तस्य निर्दोषत्वमिति चेत् युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वादिति । तदपि तदभिमतस्य मुक्तिसंसारकारणस्याऽनेकांतात्मकतत्त्वस्य च प्रमाणाबाधितत्वात् सुव्यवस्थितमेव ।

प्रमाणविशेषपरोक्षस्वरूपम्

अविशदप्रतिभासं परोक्ष । तत् पचविधं-स्मृति , प्रत्यभिज्ञानं, तर्कोनुमानमागमश्चेति । पंचविधमप्येतद् ज्ञानान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पद्यते । स्मृतेः पूर्वानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृत्यनुभवापेक्षा, तर्कस्यैतत्त्रयापेक्षा । अनुमानस्य लिंगप्रत्यक्षाद्यपेक्षा । आगमस्य च शब्दश्रवणाद्यपेक्षेति पंचस्वपि परोक्षप्रमाणेषु ज्ञानान्तरापेक्षा । प्रत्यक्षे तु न तथा, स्वातंत्र्येणैव तस्योत्पत्तेः ।

क्योंकि उनकी वाणी युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित है । उनकी वाणी की अविरोधिता भी उनके माने हुये मुक्ति, संसार और अनेकान्त स्वरूप तत्त्व के प्रमाणों से बाधित न होने से सिद्ध ही है ।

प्रमाण के भेद परोक्ष का स्वरूप

जो ज्ञान निर्मल नही होता वह परोक्ष है। वह पांच प्रकार का है- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम । पाँच प्रकार का यह परोक्ष दूसरे ज्ञानों की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है । स्मृति को पूर्व अनुभव की अपेक्षा है, या प्रत्यभिज्ञान को स्मृति और अनुभव की अपेक्षा है, तर्क को स्मृति, अनुभव और प्रत्यभिज्ञान तीनों की अपेक्षा है । अनुमान को हेतु, प्रत्यक्ष वगैरह की अपेक्षा है और आगम को शब्द वगैरह सुनने की अपेक्षा है । इस तरह पांचों ही परोक्ष प्रमाणों मे ज्ञानान्तर की अपेक्षा है जबकि प्रत्यक्ष मे वैसा नहीं है । उसकी उत्पत्ति तो स्वतन्त्र रूप से होती है ।

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काणां पृथक्प्रामाण्यसमर्थनम्

स्मृतिप्रामाण्यसमर्थन—तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृति यथा स देवदत्त । केचित् स्मृते प्रामाण्यं न स्वीकुर्वन्ति तन्न समीचीन । स्मृतेरनुभूतार्थविषयत्वेन गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यमिति न वक्तव्य, परिच्छित्तिविशेषसद्भावात् न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया प्रतिभासस्तथैव स्मृतौ, तत्र तस्या वैशद्याऽप्रतीते । न च तस्या विसम्वादादप्रामाण्य, दत्तग्रहादिविलोपापत्ते । तद्गृहीतेर्थे स्वय स्थापितनिक्षेपादौ प्राप्तिप्रमाणातरप्रवृत्तिलक्षणाविसम्वादप्रतीते । यत्र तु विसम्वादस्तत्र स्मृतेराभासत्व प्रत्यक्षाभासवत् । यदि स्मृते प्रामाण्य न स्वी-

---

स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क वगैरह की भिन्न-भिन्न प्रमाणता की सिद्धि

स्मृति की प्रमाणता की सिद्धि—पहले अनुभव किये गए पदार्थ को 'वह' इस आकार मे ग्रहण करने वाला ज्ञान स्मरण या स्मृति है, जैसे वह देवदत्त । कई स्मृति की प्रमाणता नही मानते–यह ठीक नही । वे कहते हैं स्मृति अप्रमाण है, क्योकि वह पूर्वानुभूत पदार्थ को विषय करने वाली होने से गृहीतग्राही है–ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि वह भी ज्ञान विशेष है । यह ठीक है कि जैसा प्रत्यक्ष मे निर्मल प्रतिभास होता है वैसा स्मृति मे नही होता– स्मृति मे निर्मलता की प्रतीति नही होती । वह विसम्वादी है अत- अप्रमाण है– ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि इससे तो देन लेन आदि व्यवहार निर्मूल हो जायगे । स्मृति पूर्वक रखे गए या गाड़े गए पदार्थो की प्राप्ति होती है– उसमे किसी प्रमाणान्तर की जरूरत नही होती और न कोई गलत फहमी होती, अतः कोई विसम्वाद नही और जहा विसम्वाद होता है वहा स्मृत्याभास कहा जाता है प्रत्यक्षाभास की तरह । अगर स्मृति को प्रमाण न माना

क्रियेत तर्हि तदधीनः निखिलोऽपि लोकव्यवहारोऽविश्वसनीयः
स्यात्। स्मृतेरप्रामाण्ये तु अनुमानवार्ताऽपि दुर्लभा। तथा
व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्। ततोऽनुमानस्य प्रामाण्यं
स्वीकुर्वद्भिः स्मृतेरवश्यमेव प्रामाण्यमङ्गीकर्तव्यमिति।

प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यसमर्थनं—दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं
प्रत्यभिज्ञानं। तदनेकविधं एकत्वसादृश्यवैसादृश्यप्रतियोग्यादि-
भेदात्। तदेवेदमितिएकत्वप्रत्यभिज्ञानं, तथा स एवायं देवदत्तः।
तत्सदृशमिति सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं यथा गोसदृशो गवयः। तद्वि-
लक्षणमिति वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानं, यथा गोविलक्षणो महिषः।
तत्प्रतियोगीति तुलनाप्रत्यभिज्ञानं, यथा इदमस्माद् दूरमिति।

जाय तो स्मृति के द्वारा होने वाला सारा लोकव्यवहार विश्वास
के योग्य नहीं रहेगा। और स्मृति के अप्रमाण हो जाने पर तो
अनुमान भी प्रमाणभूत नहीं ठहरेगा। व्याप्ति के स्मरण किए
बिना अनुमान का उदय ही नहीं हो सकता। इसलिए अगर
अनुमान को प्रमाण माना जाता है तो स्मृति को भी अवश्य ही
प्रमाण स्वीकार करना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि— वर्तमान में पदार्थ
का दर्शन और पूर्व मे देखे हुये का स्मरण दोनो के संकलन से
उत्पन्न होने वाला अनुसन्धान रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता
है। वह एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक प्रकार
का है। यह वही है-यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है जैसे यह वही
देवदत्त है। वह उसके समान है-यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है, जैसे
गाय सरीखा गवय होता है। यह उसके समान नही है-यह
वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान है जैसे गाय से विलक्षण भैंस होती है।
यह इससे दूर है-वह प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान है, जैसे जयपुर से
देहली दूर है।

ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षप्रमाणरूपत्वात् परोक्षरूपतयाऽत्रा-भिधानमयुक्तं, तथा हि प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा, इन्द्रियान्वयव्यतिरे-कानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत्; तन्न समीचीन, प्रत्यभिज्ञाया-मिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धः। अन्यथा प्रथमव्यक्ति-दर्शनकालेऽपि अस्योत्पत्ति स्यात्। न च स्मृतिसहायमिन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान जनयतीति वाच्य, प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात्। तत्सापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वाभावः स्यात्। प्रत्यक्ष हीन्द्रि-यसम्बद्धमेवार्थं प्रकाशयति, प्रत्यभिज्ञान तु पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्ये-कत्वविपयम्।

ननु स एवायमित्यादिप्रत्यभिज्ञान नैक ज्ञान, स इत्युल्लेखस्य स्मृतिरूपत्वात्, अयमित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात्। नचाभ्यां

शका—प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है अत उसे यहा परोक्ष रूप कहना ठीक नही। जैसे कि–प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष है, इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक घटित होने से और प्रत्यक्षो की तरह।

समाधान—यह ठीक नही–प्रत्यभिज्ञान का इन्द्रियो के साथ अन्वय व्यतिरेक घटित नही होता। नही तो पहले पहल व्यक्ति को देखने के समय भी प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होनी चाहिए। स्मृति की सहायता प्राप्त इन्द्रिय, प्रत्यभिज्ञान को पैदा करेगी यह कहना भी ठीक नही, क्योकि प्रत्यक्ष को स्मृति की अपेक्षा नही होती। यदि प्रत्यक्ष भी स्मृति की अपेक्षा करे तो वह अपूर्व अर्थ का साक्षात्कार करने वाला नही होगा। प्रत्यक्ष तो इन्द्रियों मे सम्बन्धित पदार्थ को ही प्रकाशित करता है परन्तु प्रत्यभिज्ञान का विपय तो पूर्व और उत्तर पर्याय मे रहने वाला एकत्व है।

शका—यह वही है–इस तरह का जो प्रत्यभिज्ञान है वह एक ज्ञान नही है। वह यह उल्लेख तो स्मृति का विषय है, यह उल्लेख प्रत्यक्ष का विपय है। इन दोनो से अलग कोई ज्ञान

व्यतिरिक्तं ज्ञानमस्ति यत् प्रत्यभिज्ञानशब्दवाच्यं भवेत् । नाप्य-नयोरेकत्वं, प्रत्यज्ञानुमानयोरपि तत्प्रसङ्गात् । विशदेतररूपतया तयोर्भेदे स्मृतिप्रत्यक्षयोरपि भेद स्यात्, इत्येतत् सर्वं न युक्ति-संगतम् । स्मृतिप्रत्यक्षोत्पन्नस्य पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य सङ्कलनात्मकज्ञानस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेनानुभवसिद्धत्वात् । न खलु केवला स्मृतिरेव भूतवर्तमानपर्यायवर्तिद्रव्यं संकलयितुं समर्था, तस्या अतीतपर्यायमात्रविषयत्वात् । नापि प्रत्यक्ष, तस्य वर्तमानपर्यायमात्रगोचरत्वात् ।

कथ च प्रत्यभिज्ञानास्वीकारेऽनुमानप्रवृत्तिः । पूर्वधूमसदृश-धूमदर्शनादग्नेरनुमान भवति । न च प्रत्यभिज्ञानं विना तेन सदृशोऽयं धूम इति प्रतिपत्तिरस्ति ।

नही है जो प्रत्यभिज्ञान शब्द का वाच्य हो । इन दोनों का एकत्व हो नही सकता, यदि हो तो प्रत्यक्ष और अनुमान के भी एकत्व का प्रसग होगा । विशद और अविशद होने से उनमें भेद माना जाय तो स्मृति और प्रत्यक्ष में भी भेद होगा ?

समाधान - यह सब कुछ तर्क सम्मत नही है । स्मृति और प्रत्यक्ष से पैदा हुए पूर्व और उत्तर पर्याय मे रहने वाले एक द्रव्य विषयक जोड रूप ज्ञान के प्रत्यभिज्ञान रूप से अनुभव सिद्ध होने के कारण यह शका निर्मूल है । वस्तुत. केवल स्मृति ही भूत और वर्तमान पर्याय मे रहने वाले द्रव्य को विषय नही कर सकती, क्योकि उसका विषय तो भूत पर्याय मात्र है । और न प्रत्यक्ष एकत्व को विषय करता है, क्योकि उसका विषय मात्र वर्तमान पर्याय है ।

और प्रत्यभिज्ञान न मानने पर तो अनुमान की प्रवृत्ति भी कैसे होगी ? पहले की धूम के समान धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है । और प्रत्यभिज्ञान के बिना यह धूम उसके समान है—ऐसा ज्ञान ही नही हो सकता ।

ननु एकत्वमेवं प्रत्यभिज्ञा, सादृश्यज्ञानं तूपमानमिति चेन्न। तथा तथा सति वैलक्षण्यज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात्। यथैवगोदर्शनाहितसंस्कारस्य गवयदर्शिनोऽनेन समानः स इति प्रतिपत्तिः तथा महिष्यादिदर्शिनोऽनेन विलक्षणः स इति वैलक्षण्यप्रतीतिरप्यस्ति। तथा च प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन पूर्वोक्तानां सर्वेषां प्रत्यभिज्ञानत्वमेव।

तर्कस्य पृथक् प्रामाण्यसमर्थनम्—व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगंधासहिष्णुः सम्बन्धविशेषोव्याप्तिः। स एवाविनाभाव इत्यपि कथ्यते। अविनाभावा-

---

शंका—एकत्व ज्ञान को तो प्रत्यभिज्ञान कहा जाना चाहिए पर सादृश्यज्ञान को तो उपमान कहा जाना ठीक होगा।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। ऐसा मानने पर तो विलक्षण ज्ञान को कौनसा प्रमाण कहना होगा। जिस प्रकार गाय के देखने से संस्कार ग्रहण करके गवय को देखने पर गाय के समान गवय है-ऐसा ज्ञान होता है, उसी प्रकार भैंस वगैरह देखने वाले को यह गाय से विलक्षण है ऐसी विलक्षण प्रतिपत्ति भी होती है। इसलिए पहले वर्णन किए गए सभी में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण घटने से सब के सब प्रत्यभिज्ञान हैं।

तर्क प्रमाण का समर्थन

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है। साध्य और साधन मे गम्य गमक भाव को प्रदर्शित करने वाले और उसमे जरासा भी हेरफेर नही सहने वाले सम्बन्ध विशेष को व्याप्ति कहते है। वही अविनाभाव है ऐसा भी कहा जाता है। अविनाभाव अर्थात् साधन का साध्य के होने पर होना—अभाव मे बिलकुल नही होना। अविनाभाव इस दूसरे नाम वाली इस व्याप्ति के

परनाम्न्याः एतस्याः व्याप्तेः प्रमितौ यत् साधकतमं तदिदं तर्काख्यं प्रमाणं पृथगेव। अनेन हि साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञान-निवृत्तिः क्रियते। अस्योदाहरणं तु यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्नि-रिति। तर्को हीमां व्याप्तिं सर्वदेशकालोपसंहारेण विषयी-करोति। यस्मिन् कस्मिंश्चिद् देशे, यस्मिन् कस्मिंश्चित् काले यावान् कश्चिद् धूमः सोऽग्निजन्मा भवति अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येवंरूपः सर्वोपसंसारः। प्रत्यक्षस्य तु सन्निहितवर्तमान-विषयत्वान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्।

ननु यद्यपि प्रत्यक्षमात्रं व्याप्तिविषयीकरणे समर्थं न भवति तथापि स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहकृत प्रत्यक्षविशेषस्तां विषयीकर्तुं शक्नुयादिति किं तर्कनाम्ना पृथक्प्रमाणेनेति चेन्न। सहकारिशत-समवधानेऽपि प्रत्यक्षस्य विषयान्तरप्रवृत्त्ययोगात्। वस्तुतस्तु

ज्ञान करने मे जो सर्वोत्कृष्ट गाधक है—वह तर्क नाम का प्रमाण भिन्न ही है। निश्चय से इसके द्वारा साधन साध्य संबन्धी अज्ञान दूर किया जाता है। इसका उदाहरण जहां जहां धूंवा है वहां वहा अग्नि है। इस व्याप्ति को तर्क सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण काल के लिए विषय करता है। जिस किसी देश में और जिस किसी भी काल मे जो कुछ धूंवा है वह अग्नि से पैदा होती है, विना अग्नि के कभी नही होती, यह सर्वोपसंहार का रूप है। प्रत्यक्ष तो व्याप्ति का प्रकाशक नही हो सकता क्योंकि वह सन्निकट वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है।

शंका—यह सही है कि सिर्फ प्रत्यक्ष तो व्याप्ति के ज्ञान करने मे समर्थ नहीं है तो भी स्मरण और प्रत्यभिज्ञान से युक्त प्रत्यक्ष विशेष तो व्याप्ति का ज्ञान कर ही सकता है, तो फिर तर्क नामका अलग प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—यह सही नही है। सौ सहकारी मिलने पर भी प्रत्यक्ष की विषयान्तर में प्रवृत्ति नही हो सकती। वास्तव मे

स्मरणं, प्रत्यभिज्ञान, भूयोदर्शनरूप प्रत्यक्ष च मिलित्वा एता-दृशमेक ज्ञानं समुत्पादयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थं, तर्कोऽपि स एव।

ननु अनुमान व्याप्ति गृह्णीयादिति चेन्न, प्रकृतानुमानापरा-नुमानकल्पनायामन्योन्याश्रयाऽनवस्थाऽवतारात्। प्रत्यक्षपृष्ठ-भावी विकल्पो व्याप्ति गृह्णातीतिपक्षेपि तद्विकल्पस्याप्रमाणत्वे कथं तद्गृहीतव्याप्तौ समाश्वास., प्रमाणत्वे तु प्रत्यक्षानुमाना-तिरिक्त तर्क एवेति सिद्ध तर्काख्य पृथक्प्रमाणमिति।

ननु व्याप्यारोपेण व्यापकारोपरूपस्तर्को मिथ्याज्ञानमेवेति-चेन्न, तस्य मिथ्याज्ञानत्वेऽनुमास्य न कदाचिदपि प्रामाण्य स्यादिति तर्कस्य प्रामाण्यमवश्यमेव स्वीकर्तव्यम्।

तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और पुन' दर्शन रूप प्रत्यक्ष मिलकर ऐसे एक ज्ञान को पैदा करते हैं जो व्याप्ति का ज्ञान करने मे समर्थ है, और वह ज्ञान तर्क ही है।

अनुमान व्याप्ति का ज्ञान करलेगा यह भी ठीक नही बैठता। प्रकृत अनुमान के लिये दूसरे अनुमान की और उसके लिए दूसरे और अनुमान की कल्पना करने पर अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष का प्रसग उपस्थित होगा। प्रत्यक्ष के बाद मे होनेवाला विकल्प व्याप्ति को जान लेगा—इस पक्ष में भी उस विकल्प के अप्रमाण होने पर उसके द्वारा ग्रहण की गई व्याप्ति का विश्वास कैसे होगा और यदि वह विकल्प प्रमाण है तो प्रत्यक्ष अनुमान के अलावा वह तर्क प्रमाण ही है। इस तरह तर्क नाम का प्रमाण भिन्न सिद्ध हो जाता है।

शका—व्याप्य (साध्य-अग्नि) के आरोप से व्यापक (साधन-धूवा) का आरोप रूप जो तर्क है वह मिथ्याज्ञान ही है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही। तर्क को मिथ्याज्ञान मानने पर अनुमान को कभी प्रमाणता नही होगी, इसलिए तर्क प्रमाण की प्रमाणता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

अनुमानप्रामाण्यसमर्थनम्-साधनात् साध्यविज्ञानमनुमान । यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादिति । साधनमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं, साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति प्रोक्तत्वात् । साध्यं तु इष्टाबाधितासिद्धरूप । तथा चाविनाभावैकलक्षणसाधनज्ञानाद् यत् साध्यज्ञानं भवति तदनुमान । तस्य द्वौ भेदौ, स्वार्थनुमान-परार्थनुमानविकल्पात् । स्वप्रतिपत्तिहेतुः स्वार्थनुमान परप्रति-पत्तिहेतुश्चपरार्थनुमानम् । स्वयमेव निश्चिताद् धूमादयं प्रदेशो वह्निमानितिज्ञानं यदा भवति तदा तत् स्वार्थानुमान प्रोच्यते । अस्य स्वार्थानुमानस्य त्रीणि अङ्गानि-धर्मी, साध्यं, साधनञ्च । तत्र साधन गमकत्वेनाङ्गं, साध्यं गम्यत्वेन, धर्मी तु साध्यधर्मि-

---

अनुमान प्रमाण का समर्थन

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है । जैसे पर्वत अग्निवाला है धूमवाला होने से । अन्यथानुपपत्ति रूप से निश्चित होना अर्थात् साध्य के बिना न होना यही एक मात्र साधन का लक्षण है । जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है उसे ही हेतु कहा गया है । इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते है । इस तरह अविनाभाव लक्षण वाले साधन के ज्ञान से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है । उसके दो भेद है, स्वार्थनुमान और परार्थनुमान । परोपदेश के बिना स्वत. ही साधन से साध्य के ज्ञान को स्वार्थनुमान कहते है और दूसरों के उपदेश के द्वारा साधन से साध्य के ज्ञान को परार्थनुमान कहते है । अपने आप ही निश्चित धूम से यह प्रदेश अग्नि वाला है ऐसा ज्ञान जब होता है तब वह स्वार्थानुमान कहलाता है । इस स्वार्थनुमान के तीन अंग है-धर्मी, साध्य. और साधन । साधन गमक होने से, साध्य गम्य होने से और धर्मी साध्य धर्म-

धारत्वेन। पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयमपि स्वार्थानुमानस्य। एतत्तु विवक्षाया' वैचित्र्यात्, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिण एव पक्षत्वात्।

परोपदेशापेक्षसाधनज्ञानाद् यत् साध्यविज्ञान भवति तत्परार्थानुमान। प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशात् श्रोतुरुत्पन्न साधनज्ञानहेतुकं साध्यपरिज्ञान परार्थानुमानमित्यर्थ.। पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते', तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्वेति वाक्यमाकर्ण्य तद्वाक्यार्थं विचारयत. स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते। एतस्य परार्थानुमानप्रयोजकवाक्यस्य स्वार्थानुमानवत् द्वौ अवयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्चेति। तत्र पक्षवचन प्रतिज्ञा, यथा पर्वतो वह्निमानिति। साधनवचनं हेतु, यथा धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते-

---

का आधार होने से अग है। स्वार्थानुमान के पक्ष और हेतु ये दो अग भी माने जाते है। यह सब कथन की विचित्रता है, क्योकि साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी को ही पक्ष कहते हैं।

परोपदेश से होने वाला साधन से साध्य का ज्ञान परार्थानुमान है। प्रतिज्ञा हेतु रूप परोपदेश से श्रोता को उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है, धूम वाला होने से-या धूम वाला अन्यथा नही हो सकता। इस वाक्य को सुनकर और उस वाक्य के अर्थ का विचार करता हुआ जिस श्रोता ने अग्नि और धूम की व्याप्ति ग्रहण की है, उसे व्याप्ति का स्मरण होने पर जो अग्निज्ञान उत्पन्न होता है वह परार्थानुमान है। इस परार्थानुमान के प्रयोजक वाक्य के दो अवयव होते है। एक प्रतिज्ञा और दूसरा हेतु। धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते है, जैसे यह पर्वत अग्नि वाला है। साध्य से अविनाभाव रखने वाले साधन के वचन को हेतु कहते है, जैसे धूम वाला अन्यथा नही हो सकता या धूम वाला होने से। हेतु के इन दोनो

रिति तथैवधूमवत्त्वोपपत्तेरिति वा। अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्ति-वैचित्र्यमात्रं, प्रथमे निषेधमुखेन कथन द्वितीये तु विधिमुखेनेति, द्वयोरेकनेव प्रयोक्तव्यं। धूमादित्यपि प्रयोक्तुं शक्यते वेति।

नैयायिकास्तु परार्थानुमानस्य पंचावयवान् स्वीकुर्वन्ति, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनाख्यान्। तत्तु नावश्यक, पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यामेवावयवाभ्या प्रतिज्ञाहेतुरूपाभ्यां पर्याप्तत्वात्। वीतरागकथायां तु शिष्याभिप्रायानुरोधेन यद्यपि अवयवाधिक्य-मपि स्यात् किन्तु विजिगीषुकथाया प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्तेः अन्यैरवयवैः न किमपि प्रयोजनम्। विजिगीषुकथा हि वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारः। गुरुशिष्याणां जिज्ञासूनां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं

प्रयोगों में कोई अन्तर नही है-- कहने की विचित्रता मात्र है। पहला कथन निषेध रूप से है और दूसरा विधि रूप से। दोनों में से एक का ही प्रयोग करना चाहिए। धूंवा होने से यह भी प्रयोग किया जा सकता है।

नैयायिक तो परार्थानुमान के पांच अंग स्वीकार करते हैं-- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। पर ये पांच अंग स्वीकार करना जरूरी नहीं है, पहले कहे गये प्रतिज्ञा हेतु रूप दो अवयव मानना ही काफी है। वीतराग कथा में तो शिष्य को समझाने के लिए यद्यपि अधिक अवयव भी माने जा सकते हैं लेकिन विजिगीषु कथा में तो प्रतिज्ञा और हेतु रूप दो अवयव ही पर्याप्त हैं, अन्य अवयव मानने में कोई फायदा नहीं है। वादी और प्रतिवादी लोगों का अपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए जो वचन व्यवहार होता है वह विजिगीषु कथा कहलाती है। तथा रागद्वेष रहित तत्वज्ञान की इच्छा रखने वाले गुरु-शिष्यों के तत्व निर्णय होने तक जो वचन व्यवहार चलता है

प्रवर्त्तमानो वचनव्यवहारो वीतरागकथा। वादस्तु विजिगीषुकथारूप:, तस्मिन् न पूर्वोक्तावयवाधिक्यस्य प्रयोजन। वीतरागकथाया तु शिष्यानुरोधेन द्वौ वा त्रयो वा चत्वारो वा पञ्च वा अवयवा भवन्ति। "प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत" इत्युक्तत्वात्। के ते पञ्चावयवा इति चेत्, पर्वतो वह्निमानिति-प्रतिज्ञा, धूमवत्त्वादितिहेतु, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानस, यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रद, इति उदाहरणं। धूमवाश्चायमित्युपनय, तस्माद् वह्निमानिति-निगमनम्।

ननु भवद्भिरुक्तमन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधन; किन्तु तत् त्रिरूप पचरूप वास्तु। पक्षधर्मसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तयो हि

वह वीतराग कथा है। विजिगीषुकथा वादकथा है- उसमें तो पूर्व चर्चित दो अवयवो से अधिक की कोई जरूरत नहीं है। वीतराग कथा मे तो शिष्य की योग्यता भेद से दो या तीन या चार अथवा पाच भी अवयव माने जा सकते है। "अवयवों के प्रयोग का तरीका तो शिष्य की योग्यता के आधार पर होता है"-ऐसा शास्त्रो मे कहा गया है। उन पाच अवयवो का प्रयोग इस प्रकार हैं। पर्वत अग्निवाला है-यह प्रतिज्ञा है। धूमवाला होने से यह हेतु है। जहां जहा धूवा है वहा वहां अग्नि है जैसे कि रसोईघर-जहा जहा अग्नि नही है वहा वहा धूवा भी नही है जैसे कि तालाब-यह उदाहरण है। यह पर्वत भी धूम वाला है- यह उपनय है। इसलिए अग्नि वाला है-यह निगमन है।

शका—आपने हेतु का लक्षण एक मात्र अन्यथानुपपत्ति कहा है अर्थात् हेतु का साध्य के अभाव मे कभी नही पाया जाना। लेकिन वह हेतु तीन रूप वाला या पांच रूप वाला हो इसमे आपको क्या आपत्ति है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये हेतु के तीन रूप है और इन तीनो से सयुक्त अबाधित

हेतोः त्रीणि रूपाणि । पञ्चरूपाणि तु एतत्त्रयत्रिशिष्टाबाधित-विषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे । यदि हेतो. त्रैरूप्य पाचरूप्य वा लक्षणं स्यात् का हानिरिति चेन्न, त्रैरूप्ये पाचरूप्ये वा हेतोर्लक्षणेऽव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषापत्तेः । उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयादित्यादि-सद्धेतौ त्रैरूप्यपाचरूप्याभावेऽपि गमकत्वदर्शनादव्याप्ति । गर्भस्थो मैत्रतनय श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यादि असद्धेतौ त्रैरूप्य-पाचरूप्यसभवेऽपि गमकत्वादर्शनादतिव्याप्तिः । अन्यथानुपन्नत्व हेतोर्लक्षण तु न कुत्रापि अतिव्याप्नोति । न च तस्य कुत्रचिद-व्याप्तिर्वा अत एतदेव हेतोः समीचीनं लक्षणं । यत्रान्यथानुपपत्ति-स्तत्र न त्रैरूप्यस्य पाचरूप्यस्य वाऽऽवश्यकता । यत्र चैषा

विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये पाच रूप है । यदि हेतु का त्रिरूपता या पच रूपता लक्षण हो तो क्या नुकसान है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही । हेतु का लक्षण त्रिरूपत्व और पच रूपत्व मानने में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष का प्रसग आता है । शकट अर्थात् रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय हो गया है—इस समीचीन हेतु मे न त्रिरूपता है और न पंच रूपता, फिर भी साध्य का ज्ञान कराने वाला होने से प्रमाण है । इस हेतु मे हेतु का लक्षण घटा नही अत अव्याप्ति दोष दूषित है । गर्भ मे आया हुआ मित्र का पुत्र श्याम होगा क्योंकि वह मित्र का पुत्र है—जैसे कि उसके अन्य श्याम पुत्र । इस तरह के असमीचीन हेतु मे त्रिरूपता और पंचरूपता मिलने पर भी वह अपने साध्य का ज्ञान नही कराता अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित है । हेतु का लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व मानने पर तो न कही अतिव्याप्ति दोष आता है और न कही अव्याप्ति ही, इसलिए यही हेतु का बढिया लक्षण है । जहां अन्यथानुपपत्ति है वहां त्रिरूपता या पंचरूपता की आवश्यकता ही नही । और जहां अन्यथानुपपत्ति नही है वहां ये

नास्ति तत्र निरर्थकमेतद्‌द्वय । तथा चोक्तम्—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

इद बौद्धानुद्दिश्य । नैयायिकान् प्रति तु—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।

एष हेतु.सक्षेपतो द्विविध. । विधिरूप प्रतिषेधरूपश्चेति । विधिरूपोऽपि द्विविधो, विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । तत्र प्रथमोऽनेकविध –कश्चित्कार्यरूप: यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वादिति । कश्चित् कारणरूपो यथा वृष्टिर्भविष्यति विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरिति । कश्चिद्विशेषरूपो यथा वृक्षोऽय निम्ब-

---

दोनो ही व्यर्थ है। ऐसा ही बौद्धो को लक्ष्य करके पात्र स्वामी ने कहा है "जहा अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव है वहा त्रैरूप्य मानने से कोई हित नही और जहा अन्यथानुपपत्ति नही है वहा त्रिरूपता होने पर भी वह हेतु असमीचीन ही है, अत व्यर्थ है । नैयायिकों को लक्ष्य करके आचार्य विद्यानन्द ने भी कहा है —

जहा अन्यथानुपपन्नत्व है वहा पच रूप मानने से क्या लाभ है और जहा अन्यथानुपपन्नत्व नही है–वहा पंच रूपत्व रहकर भी व्यर्थ ही है ।

यह हेतु सक्षेप से दो प्रकार का है–विधि रूप और प्रतिषेध रूप । विधि रूप भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक से दो प्रकार का है । इनमे पहला अनेक प्रकार का है । कोई कर्मरूप होता है–जैसे पर्वत अग्नि वाला है धूमवाला होने से । कोई कारण रूप होता है– जैसे वर्षा होगी अन्यथा ऐसे विशिष्ट बादल उत्पन्न नही होते । कोई विशेष रूप होता है–जैसे यह

त्वात् । कश्चित्पूर्वचरो यथा उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।
कश्चिदुत्तरचरो यथा उद्गाद् भरणी प्राक् कृत्तिकोदयात् ।
कश्चित्सहचरो यथा आम्रं रूपवत् रसवत्वात् । एते हि हेतवो
भावरूपा भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्तीति विधिसाधकविधि-
रूपाः प्रोच्यते । अतएवाविरुद्धोपलब्धय इत्यप्युच्यन्ते ।

द्वितीयस्तु निषेधसाधकः विरुद्धोपलब्धिरिति यावत्, यथा
नास्य मिथ्यात्वं आस्तिक्यान्यथानुपपत्तो. । यथा वा नास्ति
वस्तुनि सर्वथैकान्तः अनेकान्तत्वान्यथानुपपत्तेः ।

प्रतिषेधरूपोऽपिहेतुर्द्विविधो–विधिसाधक. प्रतिषेधसाधक-
श्चेति । आद्यो यथा अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं विपरीताभिनि-
वेशाभावात् । द्वितीयो यथा नास्त्यत्र धूमो वह्न्यनुपलब्धेः ।

वृक्ष है नीम होने से । कोई पूर्वचर होता है–जैसे शकट तारे का
उदय होगा क्योकि कृत्तिका तारे का उदय होगया है । कोई
उत्तरचर होता है–जैसे भरणी का उदय पहले हो चुका क्योंकि
कृत्तिका का उदय हो गया है । कोई सहचर होता है–जैसे आम
रूप वाला है रसवाला होने से । निश्चय से ये सारे हेतु सद्भाव
रूप हैं और सत्स्वरूप अग्नि वगैरह को सिद्ध करते है । इसलिए
इन्हे विधि-साधक विधिरूप हेतु कहते हैं । अविरुद्धोपलब्धि
नाम से भी ये पुकारे जाते है ।

दूसरा निषेध साधक है जो विरुद्धोपलब्धि नाम से भी कहा
जाता है–जैसे इस जीव के मिथ्यात्व नहीं है, होता तो आस्ति-
कता नही हो सकती थी । अथवा वस्तु में सर्वथा एकान्त नही
है, होता तो अनेकान्तत्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती थी । प्रति-
षेध रूप हेतु भी दो प्रकार का है-विधि साधक और प्रतिषेध
साधक । पहला– जैसे इस जीव में सम्यक्त्व है क्योंकि विपरीत
आग्रह नहीं है । दूसरा– जैसे यहां धूंवा नहीं है क्योंकि अग्नि

अनयो प्रथमो विरुद्धानुपलब्धि., द्वितीयस्तु अविरुद्धानुपलब्धिरित्यपि निगद्यते। पूर्वोक्तहेतुलक्षणरहिता ये हेतवस्ते हेत्वाभासा एव। हेतुलक्षणरहितत्वेऽपि हेतुवदवभासमानत्वात्। ते च चत्वारोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात्। तत्र असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्ध, तस्य द्वौ भेदौ, प्रथम स्वरूपासिद्धो यथा शब्द परिणामी चाक्षुपत्वात्। शब्दस्य श्रावणत्वाच्चाक्षुपत्वाभावो निश्चित इतिस्वरूपासिद्धत्वमस्य। द्वितीय सदिग्धासिद्धो यथा कश्चिन्मुग्धबुद्धि प्रत्याह—अग्निरत्र धूमात्, तस्य वाष्पादिभावेन भूतसघाते सदेहात्।

साध्यविरुद्धव्याप्तो विरुद्ध, यथा अपरिणामी शब्द कृतकत्वात्। कृतकत्व हि अपरिणामविरोधिना परिणामेन व्याप्तमिति।

उपलब्ध नही है। इन दोनो मे पहला विरुद्धानुपलब्धि और दूसरा अविरुद्धानुपलब्धि नाम से भी कहा जाता है। जो हेतु ऊपर चर्चित हेतु लक्षण से रहित है वे हेत्वाभास ही है। उनमे हेतु का लक्षण नही रहता पर वे हेतु के समान मालुम पडते हैं, इसलिए वे हेत्वाभास कहाते है। हेत्वाभास के ४ प्रकार है—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर। सर्वथा पक्ष में न पाया जाने वाला अथवा जिसका साध्य के साथ सर्वथा अविनाभाव न हो वह असिद्ध हेत्वाभास है। उसके दो भेद है। पहला भेद स्वरूपासिद्ध है—जैसे शब्द अनित्य है—चाक्षुष होने से। शब्द के श्रवण इन्द्रिय जनित होने से चाक्षुषत्व हेतु शब्द मे स्वरूप से ही असिद्ध है। दूसरा भेद सदिग्धासिद्ध है—जैसे किसी ने भोले मनुष्य को कहा कि यहा अग्नि है—धू वा होने से। चू कि वह धूम और भाप का अन्तर नही जानता अत भाप को धू वा मानकर उसमे अग्नि का अनुमान करता है।

साध्य के विरुद्ध मे पाया जाने वाला विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे शब्द नित्य है क्योकि वह बनाया हुआ है। यहा कृतकत्व हेतु नित्यत्व के विपक्षीक्षणिकत्व के साथ व्याप्त है।

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः। स द्विविधः, निश्चित-
वृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्च। तत्र प्रथमः अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद्
घटवत्। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयादस्य निश्चितवृत्त्यनैकान्ति-
कत्वं। द्वितीयस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्, सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वा-
विरोधादस्यशङ्कितवृत्त्यनैकान्तिकत्वं। ज्ञानोत्कर्षे वचनानाम-
पकर्षादर्शनात्।

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः। सिद्धः
श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्। किञ्चिदकरणादस्याकिंचित्करत्वं।
यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वादकिंचि-
त्करत्वमस्ति।

आगमप्रमाणस्वरूप–आप्तवाक्यादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

विपक्ष मे भी पाया जाने वाला अनैकान्तिक हेत्वाभास है।
वह दो प्रकार का है। पहला निश्चितवृत्ति और दूसरा शकित
वृत्ति। वहा पहला–जैसे शब्द अनित्य है प्रमेय होने से, घट की
तरह। यहा प्रमेयत्व हेतु का विपक्षभूत निश्य आकाश में पाया
जाना निश्चित है, अत. यह निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक है।
दूसरा–सर्वज्ञ नही है क्योंकि वह वक्ता है। यहा सर्वज्ञत्व के साथ
वक्तृत्व का कोई विरोध न होने से वक्तृत्व हेतु शंकित-वृत्ति
अनैकान्तिक है। क्योकि ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वचनों का
अपकर्ष नही देखा जाता।

सिद्ध साध्य में और प्रत्यक्षादि बाधित साध्य मे प्रयुक्त होने
वाला हेतु अकिञ्चित्कर है। जैसे शब्द श्रवण इन्द्रिय जन्य है
शब्द होने से। यहा हेतु के कुछ भी सिद्ध नही करने से अकि-
ञ्चित्कर-पना है। जैसे अग्नि ठण्डी है द्रव्य होने से। यहा साध्य
के प्रत्यक्ष बाधित होने से हेतु को अकिंचित्कर-पना है।

आगम प्रमाण का समर्थन

आप्त के शब्द को सुनकर या हस्त संकेत आदि को देखकर
या ग्रन्थ को लिपि आदि के पढने से जो पदार्थों का ज्ञान होता

आप्तस्तु यथार्थवक्ता। यो यत्राऽवञ्चक. स तत्राऽऽप्त:। इद च व्यवहारापेक्षयाऽऽप्तलक्षण, आगमभाषया तु आप्त: प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशको निरुच्यते। परमहितं तु नि·श्रेयस तदुपदेश एव अर्हत प्राधान्येन प्रवृत्तेः। तस्यैव केवलज्ञानप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकत्वादाप्तत्व। यद्यपि सिद्धपरमेष्ठी अपि सकलपदार्थप्रत्यक्षदृष्टा तथापि न स आप्तस्तस्य परमहितोपदेशकत्वाभावात, तदभावश्च शरीराद्यभावात्।

ननु अर्थस्य कोऽर्थ यज्ज्ञानमागम प्रोच्यते। अर्थोह्यनेकात

है वह आगम प्रमाण है। आप्त प्रामाणिक वक्ता को कहते है। जो जिस विषय मे अविसवादक है वह उस विषय मे आप्त है। आप्त का यह लक्षण व्यवहार की अपेक्षा से है। आगमिक भाषा मे तो प्रत्यक्ष के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर अर्थात् सर्वज्ञ होते हुए जो परम हित अर्थात् आत्म-कल्याण का उपदेष्टा होता है उसे आप्त कहते हैं। परमहित मोक्ष को कहते है और ऐसे उपदेश मे अर्हन्तो की ही प्रधानता से प्रवृत्ति होती है। उस अर्हन्त के ही केवल-ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष होने पर परम हितोपदेशक होने से आप्त-पना है। यद्यपि सिद्ध परमेष्ठी भी सम्पूर्ण पदार्थो के ज्ञाता है फिर भी वे आप्त नही, क्योंकि वे हितोपदेशी नही और उसका कारण शरीर वगैरह का न होना है।

यदि यह कहा जाय कि अर्थ शब्द का क्या अर्थ है जिसके कि ज्ञान को आगम कहा जाता है तो वह अर्थ अर्थात् पदार्थ अनेकान्तात्मक होता है। अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय के विषय-

अनेके अन्ता:—अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरा: सामान्यविशेषादयो-
धर्मा: यस्य सोऽनेकांत: ।

ननु आगमस्यापौरुषेयत्वान्नित्यत्वाच्च कथमाप्तवाक्यनिबंध-
नत्वमितिचेन्न,आगमस्य सर्वथाऽपौरुषेयत्वनित्यत्वाभावात् । आ-
गमो हि द्रव्यादिसामान्यापेक्षया अनादिनिधन इष्यते, नहि केनचित्
पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथंचिदुत्पेक्षित:स: । द्रव्यादिविशेषा-
पेक्षया तु आदिरन्तश्च भवतीत्याप्तवाक्यनिबंधनत्वमागमस्यो-
चितमेव ।

अधुना प्रमाणस्वरूपसंख्यानिरूपणानन्तरं तद्विषयफलयोरपि
किञ्चित् प्रस्तूयते । प्रमाणस्य विषयो हि सामान्यविशेषात्मकं

भूत सामान्य विशेष वगैरह अनेक अन्त—अर्थात् धर्म जिसमें होते
है वह अनेकान्तात्मक कहलाता है । जैसे कि पदार्थ सामान्य
विशेषादि अनेक धर्म-वाला है क्योंकि वह अनुवृत्त व्यावृत्त
प्रत्यय का विषय है ।

शंका—आगम तो अपौरुषेय और नित्य होता है फिर उसको
आप्त-वाक्य-जन्यत्व कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसा कहना युक्ति सगत नही, क्योंकि आगम
सर्वथा अपौरुषेय और नित्य नही होता । निश्चय से द्रव्यादि
सामान्य की अपेक्षा से आगम के नित्य-पना स्वीकार किया गया
है, क्योंकि किसी भी पुरुष के द्वारा वह द्रव्य कही कभी किसी
तरह बनाया नही गया । द्रव्यादि विशेष की अपेक्षा से तो आदि
भी होता है और अन्त भी, अत: आगम के आप्त-वाक्य कारणता
उचित ही है ।

प्रमाण का स्वरूप और संख्या वर्णन करने के बाद अब
प्रमाण का विषय और फल का कुछ वर्णन किया जाता है ।
निश्चय से प्रमाण का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है ।

वस्तु । न केवल सामान्य, नापि केवलो विशेपो, नापि द्वयं स्वतन्त्रम्; किन्तु तदात्मक वस्तु प्रमाणग्राह्य तस्यैव वस्तुत्व-समर्थनात् । तथाचोक्त–"अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वो-त्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्ते-श्च ।" गोर्गा रित्यादिप्रत्ययोऽनुवृत्तकार' । श्याम शबल इत्यादि प्रत्ययश्च व्यावृत्ताकार । वस्तु पूर्वाकार जहाति तदानीमेव चोत्तराकार स्वीकरोति द्रव्यात्मना च तदेव तिष्ठति । एतेन वस्तुनि चत्वारो धर्मा सिद्धा भवति । सामान्यद्वय विशेषद्वय चेति । एक तिर्यक सामान्य सदृशपरिणामात्मक खण्डमुण्डादिषु गोत्ववद् । परापरपर्यायव्यापिद्रव्यमूर्द्ध्वतासामान्य द्वितीय, स्थासादिपर्यायेपु मृत्तिकावत् । तथैव एक. पर्यायाख्यो विशेप:

न केवल सामान्य रूप और न केवल विशेष रूप और न स्वतन्त्र रूप से दोनो रूप, किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है । और वस्तु भी वास्तव मे वही है जो सामान्य विशेषात्मक हो । ऐसा ही कहा है– "अनुवृत्त व्यावृत्त (सामान्य विशेष) प्रत्यय का विशद होने से पूर्व आकार का छोडना, उत्तर आकार का ग्रहण करना और किसी न किसी आकार से स्थिर रहना रूप त्रिलक्षण परिणमन से अर्थ क्रिया की उत्पत्ति होती है । गाय गाय यह सदृश प्रतीति अनुवृत्ताकार प्रत्यय है । काली गोरी यह विशेष प्रतीति व्यावृत्ताकार प्रत्यय है । वस्तु पहले के आकार को छोडती है और उसी समय दूसरे आकार को ग्रहण करती है और द्रव्य रूप से स्थिर रहती हैं । इससे वस्तु मे चार धर्म सिद्ध होते हैं– दो सामान्य और दो विशेप । एक तिर्यक् सामान्य है जो सदृश परिणमन वाला होता है–जैसे खडी मु डी गायो मे गो-पना । दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य है जो पहली और वाद की पर्यायो मे रहने वाला एक द्रव्य है–जसे स्थास, कोश-कुशूलादि पर्यायो मे रहने वाली मिट्टी । इसी प्रकार एक पर्याय

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविपरिणामरूपः आत्मनि हर्षविषादादिवत् । द्वितीयोऽर्थान्तरगतविसदृशपरिणामात्मको व्यतिरेकाख्यो गोमहिषादिवत् ।

प्रमाणफलं तु द्विविधं । साक्षात्फलमज्ञाननिवृत्तिः, परम्परया तु हानोपादानोपेक्षाः । तत्फलं प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च । यः प्रमिमीते तस्यैवाज्ञाननिवृत्तिर्भवति, स एव जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतिसकलजनानुभवसिद्धा । अत प्रमाणफलयोरभेद एव । करणक्रियापरिणामभेदात्तु भेद इति । प्रमाणं हि करणं, तत्फल तु प्रमितिरूपा क्रिया इति ।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

नाम का विशेष होता है जो एक ही द्रव्य में एक के बाद एक होने वाली पर्याय रूप होता है– जैसे आत्मा में सुख दुःख वगैरह । दूसरा व्यतिरेक नाम का विशेष है जो दूसरे पदार्थों मे रहने वाला भिन्न पर्याय रूप होता है, गाय भैंस की तरह ।

प्रमाण का फल दो प्रकार का है । उसका साक्षात् फल अज्ञान का मिटना है तो परम्परा फल त्याग उपादान और उपेक्षा बुद्धि है । वह फल प्रमाण से अभिन्न भी है और भिन्न भी । जो जानता है उसीका अज्ञान मिटता है, और वही छोड़ता है या ग्रहण करता है अथवा उपेक्षा करता है, ऐसी प्रतीति सब लोगों को अनुभव सिद्ध है । इसलिए प्रमाण और फल अभिन्न हो हैं । और करण क्रिया रूप परिणामन के भेद से भेद भी है । प्रमाण करण है जबकि उसका फल जानने रूप क्रिया है ।

[दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।]

तृतीयोऽध्यायः

नयस्वरूपम्

प्रमाणनयैरधिगम इति पदार्थाधिगमहेतुत्वेन निर्दिष्टयो प्रमाणनययो प्रमाण व्याख्यातं । साम्प्रतं नयो व्याक्रियते ।

नयो हि प्रमाणविकल्पः तस्य विकलादेशत्वात् । तथा चोक्त–"सकलादेश. प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन. ।" प्रमाणतो वस्तु परिगृह्य परिणतिविशेषापेक्षयाऽर्थविधारण नयस्य प्रयोजन । एतदेव स्पष्टयितुं शास्त्रकारैस्तस्यानेकानि लक्षणानि निरुक्तानि । तथा हि–वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन

तृतीय अध्याय

नय स्वरूप

प्रमाण और नय से तत्त्वो का ज्ञान होता है– इस सूत्र मे पदार्थों के अधिगम के उपाय रूप मे कहे गये प्रमाण और नय मे से प्रमाण का वर्णन किया । अब नय का व्याख्यान किया जाता है । नय निश्चय से प्रमाण का ही विकल्प है; क्योंकि वह विकलादेशी है । ऐसा ही कहा है–"सकलादेश प्रमाण के आधीन है तो विकलादेश नय के" । अर्थात् प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है और नय उसके अशो को । प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु के सम्बन्ध मे विशेष पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ का निश्चय करना नय का प्रयोजन है । इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकारो ने उसके अनेक लक्षण प्ररूपित किए है । जैसे कि–अनेक धर्म वाली वस्तु मे विरोध रहित हेतु का

हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।
अथवा नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति
प्राप्नोतीति नयः। अथवा श्रुतप्रमाणविकल्पो नयः। ज्ञातुरभिप्रा-
यो वा नयः। इमानि च सर्वाणि लक्षणानि एकमेवार्थं प्रतिपाद-
'यन्ति। प्रमाणं हि द्रव्यपर्यायात्मकं सामान्यविशेषात्मकं वा
वस्तु विजानाति। नयस्य तु न तादृशं सामर्थ्यं। स हि वस्तु
विजानन् केवलं तस्य द्रव्यत्वांशं विजानीयात् पर्यायत्वांशं वा।
तत्तु न सकलं वस्तु, तादृशांशस्य विकलत्वात्। सकलं तु वस्तु
द्रव्यपर्यायात्मकं। अत एव प्रमाणस्य सकलादेशत्वं नयस्य च
विकलादेशत्व सुप्रसिद्धं।
ननु स्वार्थनिश्चायकत्वान्नयः प्रमाणमिति चेन्न, तस्य स्वार्थ-

प्रयोग करते हुए यथार्थ साध्य विशेष की प्राप्ति करने का जो
उत्तम तरीका है वही नय है। अथवा भिन्न भिन्न स्वभावों से
हटकर एक स्वभाव में वस्तु को जो प्राप्त कराता है वह नय है।
अथवा श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। अथवा ज्ञाता
के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। ये सारे के सारे लक्षण
एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। प्रमाण निश्चय से द्रव्य
पर्यायात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक वस्तु को जानता है।
लेकिन नय की वैसी सामर्थ्य नही है। वह तो वस्तु का ज्ञान
करता हुआ केवल उसके द्रव्यांश को जान सकेगा या पर्यायांश
को ही। पर वह तो वस्तु का पूर्ण स्वरूप नहीं है। केवल द्रव्यांश
या पर्यायांश तो वस्तु का अपूर्ण रूप है। वस्तु का पूर्ण रूप तो
द्रव्य पर्यायात्मक होता है। इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी
और नय को विकलादेशी कहा जाना सुप्रसिद्ध है।

शंका—अपने अर्थ का निश्चय करानेवाला होने से नय
प्रमाण ही है।

कदेशनिर्णयलक्षणत्वात् प्रमाणाद् भिन्नत्वात् । ननु स्वार्थैकदेशो वस्तु अवस्तु वा ? यदि वस्तु तर्हि तत्परिच्छेदको नयः प्रमाण, यदि अवस्तु तर्हि तद्विषयो नयो मिथ्याज्ञानमिति न वक्तव्य । स्वार्थैकदेशो हि न वस्तु नाप्यवस्तु, अपितु वस्त्वंश. । यथा समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्र' अपि तु तस्यैकदेश. । तन्मात्रो यदि समुद्रः तर्हि शेषाशोऽसमुद्रः स्यात्, समुद्रबहुता वा भवेत् । तस्यासमुद्रत्वे तु क्व समुद्रवाग्विज्ञानप्रवृत्ति । ननु नयो यदि वस्तुन एकमेवधर्मं गृह्णाति तर्हि तस्य मिथ्याज्ञानत्व स्यात् । वस्तुन एकधर्मात्मकत्वाभावात् । तद्धि अनेकान्तात्मकमस्तीति

समाधान—सो भी नही है । नय वस्तु के एक देश का ही निर्णायक होता है अत वह प्रमाण से भिन्न ही है ।

शका—पदार्थ का एक देश वस्तु है या अवस्तु ? अगर वस्तु है तो उस वस्तु को जानने वाला नय प्रमाण ही होगा और यदि अवस्तु है तो उसको विषय करने वाला नय मिथ्याज्ञान होगा ।

समाधान—ऐसा नही कहना चाहिए । नय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला वस्तु का एक देश निश्चय से न तो वस्तु है और न अवस्तु ही; किन्तु वह वस्तु का अश है । जिस तरह घडे मे भरे हुए समुद्र के जल को न समुद्र ही कह सकते है और न असमुद्र ही; किन्तु वह समुद्र का एक अश है । अगर घट प्रमाण जल ही समुद्र हो तो बाकी अश असमुद्र कहलायेगा अथवा जितने जल के घडे होगे उतने समुद्र कहे जायेंगे तो समुद्र अनेक हो जायेंगे । और यदि उसे असमुद्र कहोगे तो समुद्र वचन के ज्ञान की प्रवृत्ति कहा होगी । अतः जैसे घडे का जल समुद्र का एक देश है, असमुद्र नही, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नही ।

शका—अगर नय वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान होगा क्योंकि वस्तु एक धर्मात्मक नही होगी वह तो अनेक धर्मात्मक होती है ।

चेन्न, अनेकान्तात्मकस्याऽपि वस्तुन एकधर्मात्मकत्वज्ञानमपि धर्मान्तरानिषेधक सम्यग्ज्ञानमेव । तद्वीतरधर्मनिषेधक मिथ्या-ज्ञानं स्यादिति न नयस्य मिथ्याज्ञानत्व, तस्य सापेक्षत्वात् । ततो नयस्य स्वार्थैकदेशनिर्णयलक्षणत्वं समीचीनम् ।

एष नयो द्विविधो द्रव्यार्थिक: पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यार्थिकस्य त्रयो भेदा , नैगम: सग्रहो व्यवहारश्चेति । निगम. सकल्पस्तत्रभवो नैगम: । अयं हि नयोऽनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही, यथा जलेन्धनाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कञ्चित् पुरुषं कश्चित् पृच्छति किं करोति भवान् ?स आह ओदन पचामीति, किन्तु न

समाधान—ऐसा नही है । वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने पर भी उसके एक धर्म को जानने वाला नय यदि धर्मान्तरों का निषेध नही करता अर्थात् अपने अश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य अशो को गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे तो वह सम्यग्ज्ञान ही है । अगर वह इतर धर्मो का निषेध करता है वो वह निश्चय ही मिथ्याज्ञान है । अत. नय मिथ्याज्ञान नही है क्योकि वह नयान्तर की अपेक्षा करता है । इस प्रकार नय का वस्तु का एक अंश जानना रूप लक्षण समीचीन ही है ।

यह नय दो प्रकार का है-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक और पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक कहलाता है । द्रव्यार्थिक के तीन भेद है—नैगम, संग्रह और व्यवहार । निगम सकल्प को कहते हैं उसमे जो हो उसे नैगम कहते है । यह नय वास्तव मे अपूर्ण पदार्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करता है । जैसे जल ईन्धन वगैरह लाने मे लगे हुए किसी पुरुष को कोई पूछता है कि आप क्या करते है ? वह कहता है चांवल पकाता हूँ, लेकिन

तदौदनपर्याय: सन्निहित., तदर्थ व्याप्रियते स । नैगमोऽयमन्यो-न्यगुणप्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपक , सर्वथाऽभेदवादस्तु तदाभास । स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीयाविशेषेण समस्तग्रहणात् सग्रह यथा सत्, द्रव्य, घट इत्यादि । सदित्युक्ते सर्वेषा सत्ताधारभूता-नामविशेषेण सग्रहो भवति । द्रव्यमित्युक्ते जीवाजीवतद्भेद-प्रभेदाना सग्रह । घट इत्युक्ते सर्वेषा घटबुद्धयभिधानविषय-भूताना सग्रह । सग्रहो हि प्रतिपक्षव्यपेक्षो यावन्मात्रतज्जातीय-पदार्थग्राहक । सर्वथा सन्मात्रग्राही तु तदाभास' । सग्रहगृहीत-

---

वह चांवल रूप पर्याय अभी मौजूद कहा है वह उसके लिए व्यापार ही तो कर रहा है। यह नैगम नय धर्म और धर्मी, गुण और गुणी मे गौण मुख्य भाव से भेद और अभेद दोनो को ग्रहण करने वाला है। धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है । जो एक वस्तु की समस्त जाति को व उसकी समस्त पर्यायो को सग्रह रूप करके एक स्वरूप कहे, उसको सग्रह नय कहते हैं, जैसे सत्, द्रव्य, घट वगैरह । सत् ऐसा कहने से सम्पूर्ण सत् पदार्थों का सग्रह हो जाता है। द्रव्य ऐसा कहने से जीव अजीवादि तथा उनके भेद प्रभेदादि सबका ग्रहण होता है। घट कहने पर घट रूप से कहे जाने वाले सब घटो का ग्रहण हो जाता है। निश्चय से यह सग्रह नय विपक्षी की अपेक्षा न करता हुआ जितने भी एक जाति के पदार्थ है उन सब को ग्रहण करता है। सर्वथा सन्मात्र को ग्रहण करने वाला सग्रह नही सग्रहाभास है। अद्वैत ब्रह्मवाद शब्दाद्वैत आदि सभी सग्रहाभास है क्योकि इसमे भेद का सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रह नय मे अभेद मुख्य होने पर भी भेद का निराकरण नही- गौण अवश्य हो जाता है। सग्रह नय के द्वारा सगृहीत अर्थ का विधि पूर्वक भेद प्रभेद करने वाला व्यवहार

भेदको व्यवहार । यथा यत् सत् तद् द्रव्यं गुणो वा । द्रव्य तु
जीवद्रव्यमजीवद्रव्य वा । जीवाजीवावपि देवनारकादिर्घटादि-
श्चेति । काल्पनिको भेदस्तदाभासः ।

पर्यायार्थिकस्यचत्वारो भेदाः—ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः,
एवंभूतश्चेति । ऋजुं प्रगुणं वर्तमानं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ।
पूर्वापरकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्तेऽयं नयः
अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् ।

ननु वर्तमानपर्यायमात्रग्राहकत्वादस्य नयस्य लोकसंव्यवहार-
लोपप्रसङ्ग इतिचेदत्रास्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते ।
लोकसंव्यवहारस्तु सर्वनयसमूहसाध्यः । न चायमतीतानागतयो-

नय है । जैसे जो सत् है वह द्रव्य है या गुण है । द्रव्य है तो
जीव द्रव्य है कि अजीव द्रव्य । जीव है तो देव नारकी वगैरह,
अजीव है तो पुद्गल धर्म अधर्म वगैरह । विधि-पूर्वक भेद न
करके कल्पना से भेद करना व्यवहाराभास है ।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजूसूत्र, शब्द, समभिरूढ
और एवंभूत । जो वर्तमान को विषय करे वह ऋजूसूत्र है । यह
नय अतीत अनागत दोनों पर्यायों को छोड़कर वर्तमान पर्याय
मात्र को ग्रहण करता है । अतीत पर्याय के नष्ट हो जाने से
तथा भावी पर्याय के पैदा न होने से व्यवहार नहीं हो सकता ।

शंका—यह नय मात्र वर्तमान पर्याय का ग्रहण करने वाला
होने से लोक व्यवहार का लोप हो जायगा ।

समाधान—ऐसा नहीं है । यहां इस नय का विषय मात्र
दिखलाया है । लोक व्यवहार तो सम्पूर्ण नयों के समूह द्वारा
चलता है । और यह नय भूत और भावी का निषेध करता हो
ऐसा भी नहीं है । प्रतिपक्ष की अपेक्षा रखता हुआ यह मात्र.

निषेध करोति। प्रतिपक्षसव्यपेक्ष–वर्तमान–पर्यायमात्रग्राहित्वा-दस्य। क्षणिकैकान्तस्तु तदाभास ।

लिङ्गसख्याकालादीना भेदाच्छब्दस्य भेदकथनं शब्दनय । दार भार्या कलत्रमित्यत्र लिङ्गभेदात् त्रयाणां भिन्नत्व। जलमापो वर्षा ऋतु इत्यादौ सख्याभिन्नत्वाद् भिन्नत्वम्। विश्व-दृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता भावि कृत्यमासीदित्यादौ कालभिन्नत्वाद् भिन्नत्वम्। लिङ्गादिभेद विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्त-दाभास।

पर्यायभेदात् पदार्थनानात्वनिरूपक समभिरूढनय । शब्द-भेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाऽपि अवश्य भवितव्यम्। अन्यथा शब्द-

---

वर्तमान पर्याय का ग्रहण करने वाला है। अर्थात यह नय पर्याय की मुख्यता भले ही करे पर द्रव्य का अस्तित्व उसकी दृष्टि में गौण रूप मे रहता ही है। बौद्ध का सर्वथा क्षणिकवाद ऋजूसूत्र नयाभास है क्योकि उसमे मात्र पर्याय रहती है–द्रव्य का विलोप हो जाता है।

लिंग, सख्या, काल, कारक के भेद से शब्द भेद होने पर अर्थभेद कहना शब्द नय है। दार भार्या, कलत्र इनमे लिंग भेद-होने से तीनो शब्दो के अर्थमे भिन्नता है। जल, आप, वर्षा ऋतु इत्यादि शब्दो मे सख्या की भिन्नता होने से अर्थ की भिन्नता है। विश्व को देखने वाला इसके पुत्र हो गया– यहां होने वाले कार्य को हो गया ऐसा कहा गया अत काल भिन्नता होने से अर्थ की भिन्नता है। लिगादि भेद के बिना एकान्त रूप से शब्दो की ही भिन्नता से अर्थ भिन्नता मानना शब्दनयाभास है।

पर्यायवाची शब्दो के भेद से अर्थभेद निरूपण करने वाला समभिरूढ नय होता है। यदि शब्द-भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए, नही तो शब्द भिन्नता व्यर्थ होगी। ऐश्वर्य क्रिया

भेदस्य निरर्थकत्व स्यात्। इन्दनादिन्द्र., शकनाच्छक्र, पूर्दारणात् पुरंदरः इत्यादिषु शब्दभेदादर्थभेदोऽप्यस्त्येव। अथवा नानाऽर्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढ., समभिरूढः, यथा गोरित्यय शब्दो यद्यपि वागाद्यनेकार्थेषु वर्तते तथापि पशुविशेषे रूढ:। अथवा यो यत्र वर्तते स तत्र समेत्याभिरूढ· समभिरूढः, यथा क्व भवानास्ते, स आह आत्मनीति। यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात् ज्ञानादीनां रूपादीना चाकाशे वृत्तिर्भवेत्। पर्यायनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथन समभिरूढाभासः।

क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमेवंभूत·। एतन्नयापेक्षया स्वाभिधेयक्रियापरिणतिक्षण एव स शब्दो युज्यते नान्यदा। यदैवेन्दति

की अपेक्षा से इन्द्र शब्द, शासन क्रिया की अपेक्षा से शक्र शब्द, पूर्दारण क्रिया की अपेक्षा से पुरन्दर शब्द– इन पर्यायवाची शब्दों मे शब्द के भेद से अर्थ भेद भी है ही। अथवा अनेक अर्थों को छोडकर के जो एक ही अर्थ में प्रसिद्ध हो उसको जाने या कहे सो समभिरूढ नय है। जैसे गो शब्द के गमन आदि अनेक अर्थ होते है तथापि मुख्यता से गाय ही ग्रहण होता है। अथवा जो जहा रहता है वह वहा पूर्ण रूप से अवस्थित है वह समभिरूढ नय है। जैसे आप कहां रहते हैं, वह कहता है— आत्मा में। अगर अन्य की अन्य जगह स्थिति हो तो ज्ञान वगैरह तथा रूपादि का आकाश में रहना हो जायगा। पदार्थ को एकान्त रूप मानकर भी इन्द्रादि शब्दों का भेद कथन करना समभिरूढाभास है।

पदार्थ जिस समय जिस क्रिया मे परिणत हो उसको उस काल में उसी नाम से कहे या जाने उसे एवंभूत नय कहते है। इस नय की अपेक्षा से शब्द का जो कुछ अभिधेय है वैसी ही क्रिया करते हुए उस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है अन्य समय में नहीं। जब इन्द्र परम ऐश्वर्य सहित हो तभी उसे इन्द्र

तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक । यदैव गच्छति तदैव गोर्न स्थितो न शयित इति । क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु काल्पनिकोव्यवहारस्तदाभास ।

एषु पूर्वे चत्वारोऽर्थनया अर्थप्रधानत्वात् । अर्थप्रधानत्व च शब्दापेक्षा विनाऽर्थप्ररूपणामात्रपरत्व । अवशिष्टाश्च त्रय. शब्दनया शब्दप्रधानत्वात्, शब्दप्रधानत्वं च शब्दापेक्षयाऽर्थप्ररूपकत्व । एते सर्वेऽपि नयाः पूर्वपूर्वमहाविषया उत्तरोत्तराऽल्पविषयाश्चेति । तथाहि नैगमनयात् सग्रहोऽल्पविषय सन्मात्रग्राहित्वात्तस्य । नैगमस्तु भावाभावविषयत्वाद् बहुविषय । यथैव नैगमस्य भावे सकल्पस्तथाऽभावेऽपि । व्यवहारः सग्रहादपि अल्पविषयः

कहना, पूजन अभिषेकादि करते हुए इन्द्र नही कहना । गाय जब चले तभी गाय कहना– बैठे और सोते हुए नही । क्रिया के अनुसार शब्द का प्रयोग न कर अन्य शब्द का प्रयोग करना एवम्भूताभास है ।

इन सात नयो मे पहले के चार नय अर्थ प्रधान होने से अर्थनय है । इनको अर्थ प्रधानता इसीलिए है कि शब्दो की अपेक्षा के बिना मात्र ये पदार्थ की प्ररूपणा करते है । बाकी बचे हुये तीन नय शब्द शास्त्र की भूमिका अदा करने से शब्द नय हैं । इन्हे शब्द प्रधान कहने का कारण यही है कि शब्द की अपेक्षा पदार्थ का निरूपण करते है । ये सब नय पहले पहले वाले महा विषय वाले है तो आगे आगे वाले अल्प विषयक है । जैसे कि नैगम नय से सग्रह नय अल्प विषय वाला है क्योकि वह सत् तक ही सीमित है । नैगम नय तो सत् और असत् दोनो को विषय करता है अत· महाविषय वाला है । नैगम नय जैसे सत् मे सकल्प करता है वैसे ही असत् मे भी । व्यवहार नय सग्रह नय से भी अल्प विषयक है क्योकि वह सग्रह के द्वारा

तद् भेदप्रभेदविषयत्वात् । संग्रहस्तु बहुविषयोऽभेदगोचरत्वात् । ऋजुसूत्रस्ततोऽप्यल्पविषयो वर्तमानपर्यायमात्रविषयत्वात् । व्यवहारस्तु त्रिकालविषयत्वाद्बहुविषय । ऋजुसूत्रे लिगादिभेदे मत्यपि नार्थभेद स्वीक्रियतेऽत शब्दनयस्तस्मादल्पविषयः । ऋजुसूत्रस्तु बहुविषय । पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थं प्रतिपादयतः शब्दाद् बहुविषयात् समभिरूढ़ सूक्ष्मविषय । स हि पर्यायभेदेन भिन्नमर्थं व्यनक्ति । क्रियाभेदेऽपिचाभिन्नमर्थ कथयत. समभिरूढान्नैवभूतो बहुविषय तस्य ततोऽल्पविषयत्वात् । एते नया गुणप्रधानतया परस्परतन्त्रा सम्यग्दर्शनहेतवो भवन्ति । एतच्च सर्वं नयाना प्ररूपणमागमभाषया व्यवहारापेक्षया ।

सगृहीत अर्थ मे भेद करता है। सग्रह नय बहु विषयक है क्योंकि वह सन्मात्रग्राही है, ऋजूसूत्र व्यवहार से भी अल्प विषय वाला है क्योंकि वह मात्र वर्तमान पर्याय को विषय करता है। व्यवहार नय तो तीनो कालों को विषय करता है अतः महा विषयक है। ऋजूसूत्र नय लिंगादि भेद होने पर भी अर्थभेद स्वीकार नही करता इसलिए शब्द नय उसमे अल्प विषय वाला है ही। ऋजूसूत्र तो उससे महा विषयक है। पर्यायवाची शब्दो में भेद होने पर भी अर्थ भेद न मानने वाले शब्द नय से पर्यायवाची शब्दों से अर्थभेद की कल्पना करने वाला समभिरूढ नय सूक्ष्म विषय वाला है। शब्द प्रयोग में क्रिया की चिन्ता नही करने वाले समभिरूढ से क्रिया काल में ही उस शब्द का प्रयोग मानने वाला एवभूत अल्पविषयक है। ये सातों नय गुण प्रधान होने से एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए सम्यग्दर्शन के कारण होते है। सातों नयों का यह कथन आगमिक भाषा में व्यवहार नय की अपेक्षा से है।

अध्यात्मभाषया तु मूलनयौ द्वौ, निश्चयो व्यवहारश्चेति। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो, व्यवहारस्तु भेदविषयः। निश्चयोऽपि द्विविध, शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। निरुपाधिकगुणगुण्य-भेदविषयक शुद्धनिश्चयो, यथा केवलज्ञानादयो जीव.। सोपा-धिकतदभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव'। व्यवहारो द्विविध' सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैक-वस्तुभेदविषय. सद्भूतव्यवहार'। भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूत-व्यवहार.। सद्भूतव्यवहारोऽपि द्विविध', उपचरितानुपचरित-भेदात्। तत्र सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूत-व्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। निरुपाधिक-

---

अध्यात्म शास्त्र मे तो मूल नय दो है– निश्चय और व्यव-हार। निश्चय नय अभेद को विषय करता है तो व्यवहार भेद को विषय करता है अर्थात् निश्चय नय पर निरपेक्ष स्वभाव का वर्णन करता है तो व्यवहार नय पर सापेक्ष पर्यायो को ग्रहण करता है। निश्चय नय भी दो प्रकार का है–शुद्ध निश्चय अशुद्ध निश्चय। स्वाभाविक गुण गुणी के अभेद को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चय है जैसे जीव को केवल दर्शन, केवल ज्ञान का कर्त्ता कहना। पर सापेक्ष गुण गुणी के अभेद को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चय है जैसे जीव को क्षायोपशमिक मतिज्ञानादिक ज्ञानों का कर्त्ता कहना। व्यवहार भी दो प्रकार का है–सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार। वस्तु मे अपने गुणो की दृष्टि से भेद करना सद्भूत व्यवहार है। वस्तु मे अन्य द्रव्य के गुणो की दृष्टि से भेद करना असद्भूत व्यवहार है। सद्भूत व्यवहार के भी दो भेद है–उपचरित और अनुपचरित। गुण गुणी के परनिमित्तक भेद को विषय करना वह उपचरित सद्भूत व्यवहार है–जैसे जीव के मतिज्ञानादिक गुण। गुण

गुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः। असद्भूतव्यवहारोऽपि द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्राऽसंश्लिष्टवस्तुसबंधविषयः प्रथमो यथा देवदत्तस्य धनम्। संश्लिष्टवस्तुसबन्धगोचरश्च द्वितीयो यथा जीवस्य शरीरम्।

स्याद्वादनिरूपणम्

वादः सिद्धान्तः। स्यात्प्रधानो वादः स्याद्वादः। स्यादित्ययं निपातोऽनेकान्तवाचको द्योतको वा क्वचित् प्रयुज्यमानस्तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतत्त्वमवयवेन सूचयति प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादिवत्। स्याद्वादो हि सर्वथैकान्तत्यागात्

गुणी के स्वनिमित्तक भेद को विषय करना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है–जैसे जीव के केवल ज्ञानादि गुण। असद्भूत व्यवहार के भी उपचरित और अनुपचरित दो भेद हैं। उनमें भिन्न वस्तु के सबन्ध को विषय करना पहला है–जैसे देवदत्त का धन। अभिन्न वस्तु के सम्बन्ध को विषय करना दूसरा है जैसे जीव का शरीर।

स्याद्वाद निरूपण

वाद का अर्थ सिद्धान्त है। स्यात् अर्थात् अपेक्षा प्रधान सिद्धान्त को स्याद्वाद कहते है। 'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते है तो वाचक भी। यहां यह निपात अनेकान्त का वाचक या द्योतक है। जहा कहीं भी यह स्यात् शब्द विशेषण रूप से प्रयुक्त होता है वहा वह उस पदार्थ या तत्त्व को अवयव रूप से सूचित्त करता है। प्रायः करके निपातो का स्वभाव ऐसा होता है–एवकारादि की तरह, 'निश्चय' रूप से यह स्याद्वाद सर्वथा एकान्त का परिहार करके सप्तभंग नय

राप्तभंगनयापेक्ष स्वभावपरभावाभ्या वस्तुन॰ सदसदादिव्य-
वस्था प्रतिपादयति। वस्तु हि न केवल सत्, नापि केवलमसत्,
अपि तु सदसदात्मक द्रव्यपर्यायात्मक सामान्यविशेषात्मकं
नित्यानित्यात्मकमस्ति। वस्तुन उभयात्मकत्वं तद्विस्तरतः
सप्तभंगात्मकत्व च प्रतीतिसिद्ध।

स्याद्वादो हि जैनागमस्य बीज। तत्र वस्तुव्यवस्थाया सर्वत्रा-
स्याप्रतिहतव्यापारस्वीकारात्। एतदवलम्बनेनासत्यमपि सत्य
स्यात्। एतत्तिरस्कारे तु सत्यमप्यसत्यमिति। निराग्रहवादोऽयं
सर्वान् विग्रहान् निराकर्तुं क्षम॰। एतदुपयोगेन असमीचीनवद्
दृश्यमानान्यपि समीचीनता भजन्ते। एतदभावे तु न कदाचिदपि
सत्यदर्शन भवेत्। यथा षडन्धा हस्तिन॰ पुच्छपादमस्तकाद्यव-
यवान् परिगृह्य तस्यान्यथाकल्पना चक्रुस्तथैव स्याद्वादचक्षुविर-

---

की अपेक्षा स्वभाव परभावो से वस्तु के सत् असत् वगैरह भावो
का कथन करता है। वस्तु मात्र सत्स्वरूप नही है और न
असत् स्वरूप ही, वलिक सत असत् रूप, द्रव्य पर्याय रूप, सामान्य
विशेष रूप और नित्य अनित्य रूप है। वस्तु का उभयात्मक
होना और विस्तार से सप्तभगात्मक होना अनुभव सिद्ध है।

वस्तुत स्याद्वाद जैनागम का बीज है। जैनागम मे वस्तु
की सिद्धि करते हुए इस स्याद्वाद का सब जगह अबाध सचार
स्वीकार किया है। स्याद्वाद के प्रयोग से असत्य भी सत्य हो
जाता है और इसके दुरदुराने पर सत्य भी असत्य हो जाता
है। यह सिद्धान्त आग्रहवाद से रहित है अर्थात् इसमे हठवाद
को स्थान नही, इसलिए यह सब झगडे-टन्टो को मिटाने मे
समर्थ है। इसको प्रयोग मे लाने से बुरे से दिखलाई पडने वाले
भी भले दिखाई देने लगने है और इसके अभाव मे तो कभी
सत्य का साक्षात्कार ही नही हो सकता। जिस प्रकार छह
अन्धो ने हाथी की पूछ, पैर माथा वगैरह अगो को पकड कर

हिता: पदार्थं याथार्थ्येन ज्ञातुमशक्नुवन्तस्तस्यान्यथाकल्पनं विदधति । न चास्य स्याद्वादस्यानेकान्तवादापरनामधेयस्य केवलं शास्त्रेष्वेवोपयोगो । वस्तुतस्तु इमं विना लोकस्य व्यवहारोऽपि न सर्वथा सम्पादनीयो भवेत् तदपेक्षत्वात् तस्य ।

एकस्मिन्नेव पुरुषे युगपदेव पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितामहत्वपौत्रत्वमातामहत्वनेप्तृत्वज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादयोऽनेके धर्मा विभिन्नपुरुषापेक्षया वर्तन्ते, तादृशो व्यवहारश्चापि भवति । यद्ययमाग्रह: स्यात् य: पिता स पितैव तदा तु तस्य सत्ताऽपि संदिग्धा भवेत् । एकस्मिन्नेव काले आमलकमाम्रापेक्षया सूक्ष्मं, बदरापेक्षया च स्थूलं प्रतीयते । रङ्को मनुष्यत्वापेक्षया राजसदृश. शासकशासितापेक्षया च तयोर्महान् भेद: इति सर्वत्राने-

---

इसका स्वरूप अन्यथा समझा था उसी तरह जिनके स्याद्वाद रूपी चक्षु नहीं, वे पदार्थ को ठीक ठीक नहीं जानते हुए उसके स्वरूप को विपरीत समझते है। अनेकान्तवाद जिसका दूसरा नाम है ऐसे इस स्याद्वाद का मात्र शास्त्रो में ही उपयोग होता हो-ऐसा नही है । वास्तव में इसके बिना तो लोक-व्यवहार भी ठीक सम्पन्न नही हो सकता, क्योंकि लोक-व्यवहार में स्याद्वाद की पेंड पेंड पर जरूरत है ।

एक ही पुरुष मे एक ही समय भिन्न भिन्न पुरुषों की अपेक्षा अनेक धर्म रहते है । जैसे वह पिता भी है तो पुत्र भी, मामा भी है तो वहनजा भी, बाबा भी है तो पोता भी, नाना भी है तो दोहता भी, बड़ा भी है तो छोटा भी और इसी तरह व्यवहार भी चलता है । अगर यह हठ हो कि जो पिता है वह पिता ही होगा तब तो उसका अस्तित्व ही संशयपूर्ण हो जायगा । एक ही समय मे आवला आम की अपेक्षा सूक्ष्म है तो बेर की अपेक्षा से स्थूल है । दीन भी मनुष्यपने की अपेक्षा राजा के समान है लेकिन राजा और प्रजा की अपेक्षा से उन दोनो मे महान्

कान्तशासन लोकव्यवहारे प्रतीतिसिद्धम् । तथैव शास्त्रे पदार्थानां नित्यत्वानित्यत्वादिविचारावसरेऽस्योपयोगो भवत्येवानाहूतोऽपि । न खलु यो द्रव्यापेक्षया नित्य' स पर्यायापेक्षयाऽपि नित्यः स्यात् । अन्यथा सुवर्णवत् तन्निर्मिताभूषणस्यापि नित्यत्वं भवेत् । तथैव य' पर्यायापेक्षयाऽनित्य स न द्रव्यापेक्षयाऽपि अनित्योऽन्यथाऽऽभूषणवत् काञ्चनस्याऽपि विनाशो भवेत् । वस्तु सामान्यात्मना नोदेति, विशेषात्मना तु व्येति उदेति च । न खलु काञ्चन काञ्चनत्वेन समुत्पद्यते, आभूषणत्वेन तु समुत्पद्यते विनश्यति च । तत एवोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयमेकत्र युगपत् सभवति । घटमौलिसुवर्णार्थी जनोऽयं घटनाशमौल्युत्पादसुवर्णस्थि-

---

अन्तर है-इस प्रकार लोक व्यवहार मे हर जगह अनेकान्तवाद का शासन अनुभव सिद्ध है । लोक व्यवहार की तरह उस स्याद्वाद का उपयोग शास्त्रो में भी पदार्थों के नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों का विचार करते हुए बिना बुलाए भी होता ही है। क्योकि जो द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वह वास्तव में पर्याय की अपेक्षा कभी नित्य नही हो सकता । यदि हो जावे तो सोने की तरह उसके द्वारा बने हुए गहने भी नित्य सिद्ध होगे । इसी प्रकार जो पर्याय की अपेक्षा अनित्य है वह द्रव्य की अपेक्षा भी अनित्य नही हो सकता-नही तो गहने की तरह स्वर्ण के भो विनाश का अवसर समुपस्थित होगा । वस्तु सामान्य रूप से पैदा नही होती लेकिन विशेष रूप से तो पैदा भी होती है और नष्ट भी होती है । निश्चय पूर्वक स्वर्ण स्वर्णपने से पैदा नही होता, गहने रूप से तो पैदा भी होता है और नष्ट भी होता है । इसीलिए एक ही वस्तु मे एक साथ उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनो घटित होते है । घटार्थी, मुकुटार्थी तथा सुवर्णार्थी व्यक्ति स्वर्ण घट के नाश होने पर मुकुट के उत्पाद होने पर,

तिषु सहेतुकमेव शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं याति । गोरसत्वेऽपि दधि-
पयसोर्भिन्नत्वात् पयोव्रतो दधि नात्ति, नापि दधिव्रतः पयोऽत्ति ।
अगोरसव्रतस्तुद्वयमपि नात्ति, तस्मात्तत्त्वस्य त्रयात्मकत्वान्नि-
त्यानित्यात्मकत्वमिति । तथा चोक्तं स्वामिसमन्तभद्राचार्येण-

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्,
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति न दधिव्रतः,
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।

तथा स्वर्ण के ध्रौव्य रहते हुए क्रमशः शोक, आनन्द तथा
माध्यस्थ को सहेतुक ही प्राप्त होते है । गोरस के भी दही दूध
से भिन्न होने से जिसके दूध खाने का व्रत है, वह दही नही
खाता, जिसके दही खाने का व्रत है वह दूध नहीं खाता और
जिसके गोरस ही का त्याग है वह न दूध खाता और न दही
खाता । इसलिये तत्त्व के त्रयात्मक होने से नित्यानित्यपना है ।
स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी यही कहा है:—

"जब सोने के कलश को गलाकर मुकुट बनाया गया तो
कलशार्थी को दुःख हुआ, मुकुट चाहने वाले को हर्ष हुआ और जो
मात्र सुवर्णाकांक्षी था उसे माध्यस्थ भाव रहा—यह सब सहेतुक
है और वह कारण यह है कि वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक है ।

जिस पुरुष को दूध पीने का व्रत है वह दही को नहीं
खायगा और जिसको दही खाने का व्रत है वह दूध का पान
नही करेगा और जिसे गोरस के त्याग का व्रत है वह न दूध
लेगा और न दही, क्योंकि दोनो ही अवस्थाओ मे गोरस है ही ।
इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है ।

सप्तभंगीविवेचनम्

प्रमाणनयैरधिगम इत्यनेन द्विविधोऽधिगम' प्रतिपादित', प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति। साकल्येन तत्त्वाधिगम प्रमाणात्मक देशतस्तत्त्वाधिगमो नयात्मक । अय द्विविधोऽपि भेदः सप्तधा प्रवतते विधिप्रतिषेधप्राधान्यात्। इयमेव च प्रमाण-सप्तभगी नयसप्तभगीति च व्यवह्रियते। सप्ताना भङ्गाना-वाक्याना-समाहार -समूह सप्तभगीति तदर्थं। तानि च वाक्यानि-स्यादस्त्येव घट , स्यान्नास्त्येव घट., स्यादस्ति नास्ति च घट', स्यादवक्तव्य एव घट , स्यादस्ति चावक्तव्यश्च,

---

सप्त भंगी-विचार

उमास्वामी ने "प्रमाणनयैरधिगम." इस सूत्र के द्वारा दो प्रकार का अधिगम बतलाया है-प्रमाणात्मक और नयात्मक। तत्त्वो के सम्पूर्ण ज्ञान को प्रमाणात्मक अधिगम कहा है तो एक देश तत्त्वाधिगम को नयात्मक अधिगम बतलाया है। विधि और प्रतिषेध की प्रधानता से यह दो प्रकार का भेद भी सात सात तरह से प्रवृत्त होता है। और यही प्रमाण सप्त-भगी और नय सप्त-भगी के नाम से कही जाता है। सात भगो के—वाक्यों के समाहार अर्थात् समूह को सप्तभगी कहते है। वे सात वाक्य इस प्रकार है-(१) स्यादस्त्येव घट. अर्थात् घट किसी अपेक्षा से है ही। (२) स्यान्नास्त्येव घट अर्थात् घट किसी अपेक्षा से नही ही है। (३) स्यादस्ति नास्ति च घटः अर्थात् घट किसी अपेक्षा से अस्ति नास्ति रूप ही है (४) स्यादवक्तव्य एव घटः अर्थात् घट किसी अपेक्षा से कहा ही नही जा सकता (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् घडा

स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च। इमे सप्तापि भंगा एकस्मिन्नेव वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनया प्रश्नवशादवतारयितु शक्यन्ते। तथा चाहुरकलङ्कदेवाः—"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।"

ननु प्रश्नानां सप्तविधत्वं कथमिति चेत्, जिज्ञासाना सप्तविधत्वात्। ननु कुतः सप्तधैव जिज्ञासेतिचेत्, सप्तधा संशयानामुत्पत्तेः सप्तयाना सप्तविधत्वं तु तद्विषयीभूतधर्माणां सप्तविधत्वात्। तादृशधर्माश्च कथञ्चित्सत्त्व, कथञ्चिदसत्त्वं, क्रमार्पितोभयं, अवक्तव्यत्वं, कथञ्चित्सत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वं, कथञ्चिद-

---

किसी अपेक्षा से अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप ही है (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् घट किसी अपेक्षा से नास्ति रूप और अवक्तव्य ही है (७) स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् घट किसी अपेक्षा से अस्ति नास्ति रूप और अवक्तव्य ही है। ये सातों भंग एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा रहित विधि निषेध रूप कल्पना के द्वारा प्रश्न होने पर प्रयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसा ही अकलंक देव ने भी कहा है:—एक ही पदार्थ मे प्रश्न होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी कहलाती है।

प्रश्न सात ही क्यों तो उत्तर है कि जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है। जिज्ञासा भी सात ही क्यों—इसलिए कि संशय सात ही प्रकार के होते है और संशय के भी सात ही प्रकार का जनाव संशय के विषयभूत वस्तु धर्मों का सात ही होना है। वस्तु के वे सात धर्म निम्न प्रकार हैं—कथञ्चित्सत्त्व (किसी अपेक्षा अस्तित्व) कथंचिदसत्व (किसी अपेक्षा नास्तित्व) क्रमार्पितोभय (क्रम से दोनों की विवक्षा होने पर अस्तिनास्तित्व)

सत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्व, क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वम् चेति सप्तैव। एव च दर्शितधर्मविषयका सप्तैव सशयाः। तथा चोक्तं-

"भङ्गाः सत्त्वादयः सप्त, संशयाः सप्त तद्गताः।
जिज्ञासाः सप्त, सप्त स्युः प्रश्नाः सप्तोत्तराण्यपि।"

अत्र घट स्यादस्त्येव वा नवेति कथचित्सत्त्वतदभावकोटिकः प्रथमः सशय।

ननु कथचित्सत्त्वस्याभावः कथचिदसत्त्व, तस्य न संशय-

अवक्तव्यत्वं (युगपत् कहा नही जा सकने से अवक्तव्यत्व) कथचित्सत्वविशिष्टावक्तव्यत्व (प्रथम समय में अस्ति को और द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर अस्ति अवक्तव्यत्व) कथचिदसत्वविशिष्टावक्तव्यत्व (प्रथम समय मे नास्ति और द्वितीय समय मे अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर नास्ति अवक्तव्यत्व) क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वम् (प्रथम समय मे अस्ति, द्वितीय समय मे नास्ति और तृतीय समय मे अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर अस्ति नास्ति अवक्तव्यत्व)। इस प्रकार सातों सशयो का विषयभूत धर्म निरूपण किया। कहा भी है'—

वाक्य मे सत्व वगैरह सप्तभग इसी कारण से है कि उनमें स्थित सशय भी सात होते है और सशय भी सात इसलिए है कि जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है। जिज्ञासा के सप्त भेदो से ही सात प्रकार के प्रश्न तथा उत्तर भी होते है।

यहाँ पर 'घट है या नही' यह घट के विषय मे सत्व तथा उसके अभाव विषयक प्रथम सशय है।

शका—कथचित् सत्त्व का अभाव कथंचित् असत्ता रूप ही है—वह संशय का विपय नही हो सकता क्योकि कथचित् सत्त्व

विषयत्वसंभवः, कथंचित्सत्त्वेन सह तस्य विरोधाभावात्, तथा च कथं प्रथमः संशय इति चेत्—दर्शितसंशये कथञ्चिदस्तित्व-सर्वथाऽस्तित्वयोरेव कोटिता। तयोश्च परस्परं विरोधान्नोक्तानुपपत्तिः। एवं द्वितीयादिसंशयप्रकारा अपि ज्ञातव्याः।

ननु धर्माणां सप्तविधत्वसिद्ध्यभावे नैतत् सर्वमुपपन्नं भवति। तत्सप्तविधत्वासिद्धिश्च न संभवेत्। प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमाक्रमार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेः सप्तविधधर्मनियमाभावात्, इति चेन्न, क्रमाक्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः। स्यादस्ति घट इत्यादौ घट-

---

के साथ उसका विरोध नहीं है। किसी विवक्षा से सत्ता और किसी विवक्षा से असत्ता भी रह सकती है। तो जब कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विरोध ही नही तो 'घटः स्यादस्त्येव न वा' यह पहला संशय कैसे उत्पन्न होगा ?

समाधान—पूर्व दर्शित सशय मे कथंचित् अस्तिता और सर्वथा अस्तिता में दो कोटि हैं और उन दोनो धर्मों का परस्पर विरोध होने से संशय हो सकता है। इसी तरह दूसरे तीसरे आदि संशय के प्रकारो को भी जान लेना चाहिए।

शंका—यह सब तभी ठीक बैठ सकता है जबकि धर्मों के सात ही भेद सिद्ध हो परन्तु धर्मो के सात भेद संभव नही है। प्रथम द्वितीय धर्म के सदृश क्रम तथा अक्रम से अर्पित प्रथम तृतीय आदि धर्मों से सप्त धर्म से भिन्न अन्य धर्मों की सिद्धि हो जाने से सात ही प्रकार के धर्म हैं- यह नियम नही हो सकता।

समाधान-ऐसा कहना ठीक नही; क्योंकि क्रम और अक्रम से अर्पित प्रथम तृतीय धर्मों की योजना से धर्मान्तर की प्रतीति नहीं होती। "स्यादस्ति घटः" घट किसी अपेक्षा से है इत्यादि

त्वावच्छिन्नसत्त्वद्वयस्यासभवात् । मृण्मयत्वाद्यवच्छिन्नसत्त्वान्तरस्य सभवेऽपि दारुमयत्वाद्यवच्छिन्नस्यापरस्यासत्त्वस्यापि सभवादपरधर्मसप्तकसिद्धं सप्तभग्यन्तरस्यैव सभवात्। एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयो क्रमाक्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमपि निरस्तम् । एकरूपावच्छिन्ननास्तित्वद्वयासभवात् ।

नन्वेवं प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयो कथ धर्मान्तरत्वम् । अवक्तव्यत्व हि सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभय, तथा च यथा क्रमार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयस्मिन्नस्तित्वस्य योजन न सभवति अस्तित्वद्वयाभावात्; तथा सहार्पि-

---

वाक्य मे घटत्व धर्म सहित घट के दो सत्ता का होना असंभव है । मिट्टी युक्त घट के अन्य सत्ता का सभव होने पर भी काष्ठ आदि रचित अन्य घट की असत्ता का भी सभव होने से उसी प्रकार के अन्य सात धर्म सिद्ध हो जायगे । इस तरह अन्य सप्त भगी का सिद्ध होना सभव है न कि सप्त धर्मों से भिन्न अलग धर्म । इस प्रकार क्रम तथा अक्रम से अर्पित द्वितीय तृतीय धर्मों की योजना से अन्य धर्म सिद्धि का भी खडन होगया । क्योकि एक पदार्थ विषयक दो सत्य के समान एक रूपावच्छिन्न एक पदार्थ सम्बन्धी दो नास्तित्व का होना असभव है ।

शका—ऐसा मानने पर तो प्रथम, चतुर्थ, द्वितीय, चतुर्थ तथा तृतीय चतुर्थ धर्म मिलकर धर्मान्तर कैसे सिद्ध होगे। क्योकि अवक्तव्य भग के साथ, पहला दूसरा तथा तीसरा भग मिलाने से ही सात भंग बनते है-अन्यथा चार ही रह जाते है। जैसे क्रम से अर्पित अस्तित्व नास्तित्व रूप मे दूसरे अस्तित्व का कोई प्रयोजन नही है, क्योकि एक पदार्थ विषयक दो सत्त्व का पूर्वोक्त रीति के अनुसार असभव है। ऐसे ही साथ अर्पित उभय रूप मे नास्तित्व भी नही रह सकता ।

तोभयस्मिन्नपीति चेन्न । यतो अवक्तव्यत्व सहार्पितोभयमेव न किन्तु सहार्पितयोरस्तित्वनास्तित्वयो: सर्वथा वक्तु मशक्यत्वरूप धर्मान्तरमेव । तथा च सत्त्वादिना सहितमवक्तव्यत्वादिकं धर्मान्तर प्रतीतिसिद्ध ।

ननु-अवक्तव्यत्वं यदि धर्मान्तरं, तर्हि वक्तव्यत्वमपि धर्मान्तरं स्यात् तथा चाष्टमस्य वक्तव्यत्वधर्मस्य सद्भावेन तेन सहाष्टभंगी स्यान्न सप्तभगीति चेन्न—

सामान्येन वक्तव्यत्वस्यातिरिक्तस्याभावात् । सत्त्वादिरूपेण-वक्तव्यत्वं तु प्रथमभगादावेवान्तर्भूतम् । यदि वक्तव्यत्वं नाम कश्चनातिरिक्तो धर्म स्वीक्रियेत तदा वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामिव सप्तभग्यन्तरमेव प्राप्नोतीति न सत्त्वाऽसत्त्वादि-सप्तविधधर्मव्याघात-प्रसङ्ग ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही । अवक्तव्यत्व के साथ योजित अस्ति नास्तित्व उभय रूप ही नहीं है । किन्तु सह अर्पित सत्ता तथा असत्ता इन दोनों धर्मो का सर्वथा कथन अशक्यत्व रूप धर्मान्तर है क्योकि एक साथ दोनों धर्मो का कथन कभी संभव नही । इस प्रकार सत्वादि के साथ अवक्तव्यत्व वगैरह अनुभव से धर्मान्तर सिद्ध हो जाते है ।

शका—यदि अवक्तव्यत्व धर्मान्तर है तो वक्तव्यत्व भी धर्मान्तर होगा और ऐसी सूरत में आठवा वक्तव्यत्व धर्म के सद्भाव होते हुए अष्ट भंगी सिद्ध होगी न कि सप्त भंगी ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता । सामान्य रूप से वक्तव्यत्व धर्म अलग नहीं है और सत्त्व रूप में वक्तव्यत्व प्रथम भंगादि में ही अन्तर्भूत है और वक्तव्यत्व को अलग धर्म भी मानो तो सत्व और असत्व के समान विधि प्रतिषेध को विषय करने वाले वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्व धर्मों से अन्य सप्त भंगी बन जायगी । इस तरह सत्त्व असत्व आदि सात प्रकार के धर्म का व्याघात नहीं होगा ।

नन्वेनमधिकसख्याव्यवच्छेदेऽपि न्यूनसख्याव्यवच्छेदः कथं सिद्धयेत् ? सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदाभावात् । यत् स्वरूपेण सत्त्व तदेव पररूपेणाऽसत्त्व तथा च न प्रथमद्वितीयभगौ घटेते तत-स्तृतीयादिभगाभावात् कुत सप्तभगीतिचेत् —

अत्रोच्यते स्वरूपाद्यवच्छिन्नसत्त्व पररूपाद्यवच्छिन्नमसत्त्व-मित्यवच्छेदकभेदात्तयोर्भेदसिद्धे, अन्यथा स्वरूपेणेव पररूपेणा-ऽपि सत्त्वप्रसगात् । पररूपेणेव स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्रसगात् । एवमेवेतरभगेष्वपि भिन्नत्व ज्ञातव्य । नहि सत्त्वमेव वस्तुन स्वरूप, स्वरूपादिभिः सत्त्वस्येव पररूपादिभिरसत्त्वस्यापि प्रति-

---

शका—इस प्रकार सात संख्या से अधिक सख्या का निरा-करण हो जाने पर भी न्यून सख्या का प्रसग तो रहेगा ही क्योकि सत्त्व तथा असत्त्व का भेद सिद्ध नही होता । जो पदार्थ स्वचतुष्टय से सत्त्व रूप है वही परचतुष्टय से असत्त्व रूप है । अत सत्त्व रूप माना तो असत्त्व की जरूरत नही और असत्त्व मानो तो सत्त्व की दरकार नही । इस प्रकार जब प्रथम तथा द्वितीय भग ही नही बनते तो तृतीयादि भग बनेंगे ही कैसे अत सप्त भगी कैसे सिद्ध हो सकती है ।

समाधान—इस शका का उत्तर यह है कि स्वरूप आदि से सयुक्त सत्त्व कहाता है और पररूप आदि से सयुक्त असत्त्व कहा जाता है । इस प्रकार स्वरूपादित्व तथा पररूपादित्व इन दोनो पृथक् पृथक् धर्मो के भेद से सत्त्व तथा असत्त्व मे भेद सिद्ध है । अन्यथा स्वरूप की तरह पररूप से भी सत्त्व का प्रसंग उपस्थित होगा अथवा पररूप से असत्त्व के समान स्वरूप से भी असत्त्व कहा जाने लगेगा । इसी तरह अन्य भंगों मे भी भिन्नता जाननी चाहिए । वस्तु का स्वरूप मात्र सत्त्व नही है, क्योकि स्वरूपादि से सत्त्व की तरह पररूपादि से असत्त्व की भी प्रतीती होती है और न मात्र असत्त्व ही वस्तु

पत्तेः । नाप्यसत्त्वमेव, स्वरूपादिभिः सत्त्वस्यापि प्रतीतिसिद्धत्वात् । नापि तदुभयमेव, तदुभयविलक्षणस्यापि जात्यन्तरस्य वस्तुनोऽनुभूयमानत्वात् । यथा दधिगुडचातुर्जातिकादिद्रव्योद्भवं पानक केवलं दधिगुडाद्यपेक्षया जात्यन्तरत्वेन पानकमिदं सुस्वादु सुरभीति प्रतीयते । तथा च विविक्तस्वभावानां सप्तधर्माणां तद्विषयसंशयजिज्ञासादिक्रमेण सप्तोत्तररूपा सप्तभंगी सिद्धेति ।

इयं च सप्तभंगी द्विविधा, प्रमाणसप्तभंगी नयसप्तभंगी चेति । किं पुनः प्रमाणवाक्यं किं वा नयवाक्यमिति चेत् :—

एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्व सकलादेशत्वं । तदुक्तं–"एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।"

का स्वरूप है क्योकि स्वरूपादि से सत्त्व का भी अनुभव होता है । और सत्त्व, असत्त्व, उभय भी वस्तु का स्वरूप नही है क्योंकि उभय रूप से विलक्षण स्वरूप भी प्रतीति मे आता है । जैसे दही और गुड मे मिर्च, इलायची, केसर तथा लौंग के सयोग से एक अपूर्व ही पानक रस उत्पन्न होता है जो केवल दही गुडादि की अपेक्षा से विलक्षण स्वादवाला तथा सुगन्ध युक्त होता है । इससे सातो धर्मो के भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले सिद्ध हो जाने से उन धर्मों के विषयभूत संशय जिज्ञासा वगैरह के क्रम से सात उत्तर रूप सप्तभगी सिद्ध हुई ।

यह सप्त भगी दो प्रकार की है-प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभगी । यह पूछा जाने पर कि प्रमाण वाक्य किसे कहते हैं और नय वाक्य क्या है, तो कहते है-एक धर्म का ज्ञान कराते हुए सम्पूर्ण धर्मस्वरूप वस्तु का ज्ञान कराने वाले वाक्य को सकलादेश कहते हैं । ऐसा ही अन्य आचार्यों ने भी कहा है-वस्तु के एक धर्म के द्वारा शेष सब वस्तु के स्वरूपों का ग्रह करना सकलादेश है ।

अस्यायमर्थं यदाऽभिन्नं वस्तु एकगुणरूपेणोच्यते गुणिनां गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसभवात् तदा सकलादेश । एको हि जीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य गुणस्य रूपेण, अभेदवृत्या अभेदोपचारेण वा निरंशः समस्तो वक्तुमिष्यते । विभागनिमित्तस्य तत्प्रतियोगिनो गुणान्तरस्याविवक्षितत्वात् । कथमभेदवृत्ति, कथं चाभेदोपचारश्च इतिचेत् द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेका दभेदवृत्ति.। पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिकरेऽप्येकत्वारो पादभेदोपचारः इति ।

अभेदवृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविषयबोधजनकवाक्य विकलादेशः ।

मतलब यह है कि जब अभिन्न वस्तु एक गुण रूप से कही जाती है तब वस्तु का गुण रूप के बिना विशेष ज्ञान न हो सकने से एक धर्म द्वारा कथन करना ही सकलादेश है; क्योकि एक ही जीव द्रव्य अस्तित्व आदि सब धर्मों मे एक धर्म रूप से अभेदवृत्ति के कारण अथवा अभेद के उपचार से अंश रहित होता हुआ सम्पूर्ण वस्तु का कथन करना ही अभीष्ट है; क्योकि विभाग के कारणभूत अन्य अन्य धर्मों का कथन करना इष्ट नही है। अभेदवृत्ति या अभेदोपचार कैसे है तो उत्तर है कि जब द्रव्यार्थिक नय का आश्रय लिया जाता है तो द्रव्यत्व रूप से अभेद होने के कारण अभेदवृत्ति है; क्योकि द्रव्यत्व धर्म से सब द्रव्यो का अभेद है। पर्यायार्थिक नय के आश्रय से देखा जाय तो पर्यायो मे परस्पर भेद होने पर भी द्रव्यत्व स्वरूप एकत्व का अध्यारोप होने से अभेद का उपचार है।

अभेदवृत्ति या अभदोपचार का आश्रय न लेते हुए वस्तु सम्बन्धी एक धर्म का बोध कराने वाले वाक्य को विकलादेश कहते है।

तत्र स्वरूपादिभिरस्तित्ववन्नास्तित्वमपि स्यादित्यनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थं स्यादस्त्येवेति एवकारः कर्तव्यः। तेन स्वरूपादिभिरस्तित्वमेव न नास्तित्वमित्यवधार्यते। स चैवकारस्त्रिविधः अयोगव्यवच्छेदबोधकः, अन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकश्चेति। तत्र विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधको यथा शङ्खः पाण्डुर एव। विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधको–यथा पार्थ एव धनुर्धरः। क्रियासङ्गतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधको यथा–नीलं सरोजं भवत्येव। स्यादस्त्येव घट इत्यादौ यद्यपि क्रियासङ्गतैवकारस्तथापि नात्यन्तायोगव्यवच्छेदक, अनिष्टापत्तेः। कस्मिंश्चिद् घटेऽस्तित्वस्याभावेऽपि तादृशप्रयोगसंभवात्। अतोऽत्र क्रियासङ्गतत्वेऽपि अयो-

---

प्रथम भग मे जिस तरह स्वचतुष्टय से अस्तित्व का बोध होता है वैसे ही नास्तित्व का बोध न हो जाय इस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति करने के लिए एवकार का प्रयोग किया गया है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्वरूप आदि से वस्तु का अस्तित्व ही है न कि नास्तित्व। वह एवकार तीन तरह का है–पहला अयोग व्यवच्छेद बोधक, दूसरा अन्ययोग व्यवच्छेद बोधक और तीसरा अत्यन्तायोग व्यवच्छेद बोधक। इनमे विशेषण के साथ जुड़ने वाला एवकार, अयोग व्यवच्छेद बोधक है जैसे कि शंख श्वेत ही है। विशेष्य के साथ प्रयुक्त एवकार अन्ययोग व्यवच्छेद बोधक होता है जैसे धनुर्धर अर्जुन ही है। और क्रिया के साथ प्रयुक्त होने वाला एवकार अत्यन्तायोग व्यवच्छेद बोधक है, जैसे नील कमल होता ही है। "स्यादस्त्येव घट." इस भंग मे यद्यपि क्रिया-सगत एवकार है तो भी वह अत्यन्तायोग व्यवच्छेदक नही है; क्योंकि अनिष्ट की आशंका है। किसी घड़े में अस्तित्व के न होते हुए भी इस प्रकार के प्रयोग की संभावना है। इसलिए प्रथम भंग में एवकार के क्रिया संगत

गव्यवच्छेदकैवकार स्वीकृतः। ज्ञानमर्थं गृह्णात्येवेत्यादौ क्रिया-सङ्गतत्वेऽपि तादृशैवकारस्वीकारात्।

स्याच्छब्दस्य चानेकान्तविधिविचारादिष्वनेकेष्वर्थेषु विद्य-मानेषु विवक्षावशादत्रानेकान्तार्थो गृह्यते। अनेकान्तत्वं नामा-नेकधर्मात्मकत्व। न च—स्याच्छब्देनैवानेकान्तस्य बोधनेऽस्त्या-दिवचमनर्थकमितिवाच्य। स्याच्छब्देन सामान्यतोऽनेकान्तबोध-नेऽपि विशेपरूपेण बोधनार्थमस्त्यादिशब्दप्रयोगात्।

घट स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च

होते हुए भी अयोग व्यवच्छेद बोधक ही स्वीकार किया है। कही कही पर क्रिया के साथ प्रयुक्त एवकार को भी अयोग व्यवच्छेद बोधक अर्थ मे देखा जाता है। जैसे ज्ञान किसी न किसी अर्थ को ग्रहण करता ही है, इस उदाहरण मे एवकार को क्रिया सगत होते हुए भी उसे अयोग व्यवच्छेद बोधक ही स्वीकार किया है।

स्यात् शब्द के यद्यपि अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थ सभव होते हैं तो भी वक्ता की विशेष इच्छा से यहा अनेकान्त अर्थ का ही ग्रहण किया गया है। अनेकान्त शब्द का अर्थ अनेक धर्मात्मक या अनेक धर्म स्वरूप है। यहा कोई यह कहे कि जब स्यात् शब्द से ही अनेकान्त का ज्ञान हो जाता है तो अस्ति वगैरह शब्द व्यर्थ होगे– ऐसा कहना समीचीन नही; क्योकि स्यात् शब्द से अनेकान्त का बोध सामान्य रूप से अवश्य हो जाता है फिर भी विशेष ज्ञान हेतु अस्ति आदि शब्दो का प्रयोग सार्थक है।

शका—घट स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे नही, इसका क्या अभिप्राय है ?

नास्तीत्यस्य कोऽर्थः इति चेत्, घटो घटत्वेनास्ति पटत्वेन नास्ति। मृत्द्रव्यत्वेनास्ति सुवर्णद्रव्यत्वेन नास्ति। स्वक्षेत्रादस्ति परक्षेत्रान्नास्ति। स्वकालादस्ति परकालान्नास्तीति।

ननु प्रमेयस्य किं स्वरूपं किं वा पररूपमितिचेत्-प्रमेयस्य प्रमेयत्वादिकं स्वरूपं घटत्वादिकं पररूपम्। प्रमेयं प्रमेयत्वेनास्ति घटत्वादिना नास्ति। तथैव जीवादिद्रव्याणां षण्णां शुद्धं सद्द्रव्यमपेक्ष्यास्तित्वं, तत्प्रतिपक्षं तदभावमशुद्धद्रव्यमपेक्ष्य नास्तित्वञ्चोपपद्यते। महासत्त्वस्वरूपस्य शुद्धद्रव्यस्य सकलद्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया सत्त्वस्य विकलद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वस्य च व्यवस्थितेः। एवमेव सकलक्षेत्रकालव्यापिन आकाशस्य सकलकालक्षेत्राद्यपेक्षया सत्त्वं यत्किञ्चित् क्षेत्रकालाद्यपेक्षयाऽसत्त्वं च ज्ञातव्यम्।

समाधान—अभिप्राय यही है कि घट घट रूप से है पट रूप से नहीं। मिट्टी द्रव्य रूप से है-स्वर्णद्रव्य रूप से नहीं। अपने क्षेत्र की अपेक्षा है-पर क्षेत्र की अपेक्षा नहीं। स्वकाल से है, परकाल से नहीं।

शंका—प्रमेय का क्या स्वरूप है और पररूप क्या है?

समाधान—प्रमेय का प्रमेयत्व जो धर्म है वही उसका स्वरूप है और घटत्व आदि पररूप है। इस कारण प्रमेय प्रमेयत्व स्वरूप से है और घटत्व रूप से नहीं है। उसी प्रकार जीवादिक छह द्रव्यो का भी शुद्ध सत् द्रव्य की अपेक्षा से अस्तित्व और उससे विरुद्ध अशुद्ध असत् द्रव्य की अपेक्षा नास्तित्व भी सिद्ध होता है। महासत्त्व रूप शुद्ध द्रव्य के भी सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र तथा कालादिकी अपेक्षा सत्त्व की और विकल द्रव्य क्षेत्र कालादि की अपेक्षा से असत्त्व की व्यवस्था सुसंगत है। इसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र-काल-व्यापी आकाश का भी सम्पूर्ण काल क्षेत्र की अपेक्षा से तो सत्त्व और अल्प द्रव्य क्षेत्र काल आदि की अपेक्षा से असत्त्व है, ऐसा जान लेना चाहिए।

ननु–अस्तित्वमेव वस्तुन स्वरूप न पुनर्नास्तित्वं, तस्य पर-रूपाश्रयत्वात् । यदि पररूपाश्रितमपि नास्तित्व वस्तुन स्वरूप तदा पटगतरूपादिकमपि घटस्य स्वरूप भवेत् इति चेन्न; उभयस्याऽपि स्वरूपत्वे प्रमाणसद्भावात् । घटस्य स्वरूपाद्यपेक्षयाऽस्तित्व, पररूपाद्यपेक्षया च नास्तित्व प्रत्यक्षेणैवानुभूयते । अनुमानसिद्ध चैतत्—अस्तित्व स्वभावेन नास्तित्वेनाविनाभूत विशेषणत्वात्, साधर्म्यवत् । अविनाभूतत्व च नियमेनैकाधिकरणवृत्तित्वं । घटोऽभिधेय प्रमेयत्वादित्यादिसाधर्म्यहेतावपि

शका अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है नास्तित्व नही; क्योकि वह पररूप आदि के आश्रय से रहता है । यदि पररूप के आश्रित होकर भी नास्तित्व घट वस्तु का स्वरूप हो जाय तो घट मे जो रूप आदि है वे भी घट के स्वरूप हो जायेंगे ।

समाधान–ऐसा कहना ठीक नही । अस्तित्व और नास्तित्व दोनो ही वस्तु के स्वरूप है–इस सम्बन्ध मे प्रमाण उपलब्ध है । जैसे कि घट के स्वरूप द्रव्यत्व आदि से सयुक्त तो अस्तित्व और पररूप द्रव्यत्व आदि से सयुक्त नास्तित्व दोनो ही स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण मे आते है । घट अपने घटत्व रूप धर्म मे है और पटत्व रूप परधर्म से नही है–ऐसी प्रतीति निराबाध होती है । अनुमान प्रमाण भी इसका सहायक है–जैसे अस्तित्व स्वभाव से अविनाभूत है–विशेषण होने से, साधर्म्य की तरह । जैसे साधर्म्य वैधर्म्य से अविनाभूत है–अर्थात् जैसे घट मे मृत्तिका द्रव्य से साधर्म्य है तो उसी घट मे स्वर्ण द्रव्य से वैधर्म्य भी मौजूद है–ऐसे ही अस्तित्व भी अपने स्वभाव नास्तित्व से व्याप्त है । जिनमे अविनाभाव होता है वे धूम और अग्नि के समान एक अधिकरण मे नियम से रहते है । घट अभिधेय अर्थात् कथन के योग्य है, प्रमेय होने से–इस साधर्म्य हेतु मे भी वैधर्म्य मौजूद

वैधर्म्यमस्त्येव, अभिधेयत्वाभावाधिकरणे गगनकुसुमादौ अवृत्तिमत्त्वेन निश्चितत्वं प्रमेयत्वस्य वर्तत इति तादृशहेतोर्वैधर्म्यमक्षतमिति। एवं नास्तित्वं स्वभावेनास्तित्वेनाविनाभूतं विशेषणत्वात्, वैधर्म्यवदित्यनुमानेनाऽपि तयोरविनाभावसिद्धिः।

ननु पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यादिकेवलव्यतिरेकिहेतौ वैधर्म्यं साधर्म्येण विनाऽपि दृश्यते इति प्रोक्तानुमाने न दृष्टान्तसङ्गतिरिति चेन्न, केवलव्यतिरेकिहेतावपि साधर्म्यस्य घटादावेव संभवात्। पक्षभिन्न एव साधर्म्यं न पक्ष इति नियमाभावात्। इतिभङ्गद्वयम्।

ही है। इस अनुमान में अभिधेयत्व साध्य है, उसके अभाव के अधिकरण आकाश के फूल वगैरह मे प्रमेयत्व हेतु का न रहना निश्चित है। इस प्रकार साध्याभाव के अधिकरण में न रहना रूप धर्म प्रमेयत्व में है इसलिए इस हेतु मे पूर्ण रूप से वैधर्म्य भी है। इसी तरह नास्तित्व अस्तित्व स्वभाव से व्याप्त है, क्योंकि वह विशेषण है, जैसे वैधर्म्य। इस अनुमान के द्वारा नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभाव सिद्ध है।

शंका—पृथ्वी जल आदि से भिन्न है। क्योंकि उसमे गन्धवत्त्व है। इस केवल व्यतिरेकी हेतु में वैधर्म्य साधर्म्य के बिना भी दिखाई पडता है—इसलिए कहे हुए अनुमान मे जो दृष्टान्त दिया था "वैधर्म्य के तुल्य" यह असंगत है।

समाधान—ऐसा नही है। केवल व्यतिरेकी हेतु मे भी साधर्म्य का सभव घट आदि रूप पृथ्वी में ही है। और पक्ष से भिन्न मे ही साधर्म्य चाहिए न कि पक्ष मे, ऐसा नियम तो नहीं है। इसलिये पृथ्वी से अभिन्न घट रूप पक्ष मे भी साधर्म्य जाने से कोई हानि नही है। इस तरह दो भग सिद्ध हुए।

घट स्यादस्ति नास्ति चेति तृतीय., क्रमार्पितस्वपररूपाद्य पेक्षयाऽस्तिनास्त्यात्मको घट इति। सहार्पितस्वपररूपादिविवक्षाया स्यादवाच्यो घट., सह वक्तुमशक्यत्वादिति चतुर्थभङ्गः। व्यस्त द्रव्य सहार्पितौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादस्ति चावक्तव्य एव घट इति पचमभङ्ग। व्यस्त पर्याय समस्तौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यान्नास्ति चावक्तव्य एव घट इति षष्ठो भङ्गः। एव व्यस्तौ क्रमार्पितौ समस्तौ सहार्पितौ द्रव्यपर्यायावाश्रित्य स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य एव घट इति सप्तमो भगः।

अत्र द्रव्यमेव तत्त्व, अत स्यादस्तीतिभग एक एवेति सांख्यमत न युक्त, पर्यायस्याऽपि प्रतीतिसिद्धत्वात्। तथा पर्याय एव

किसी अपेक्षा से घट है–किसी अपेक्षा से नही है–यह तीसरा भग है। क्रम से अर्पित स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा घट अस्तिनास्ति स्वरूप है। इसी प्रकार सह अर्पित स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा घट किसी अपेक्षा अवाच्य है क्योंकि दोनो धर्मों का एक साथ कथन हो नही सकता–यह चौथा भग है। द्रव्य को पृथक् मानकर और द्रव्य पर्याय को मिला के पचम भग अर्थात् किसी अपेक्षा से घट है और अवक्तव्य है, सिद्ध होता है। पर्याय को भिन्न मान कर, द्रव्य पर्याय को मिला कर किसी अपेक्षा से घट नही है तथा अवक्तव्य है– इस छठे भग की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार अलग अलग क्रम से योजित तथा साथ योजित द्रव्य तथा पर्याय का आश्रय करके किसी अपेक्षा से है, नही भी है और अवक्तव्य है यह सातवा भग बनता है।

इस विषय मे द्रव्य ही तत्त्व है पर्याय नही, इसलिए "पदार्थ है" यह एक भग ही सत्य है–ऐसी साख्य-मान्यता अयुक्त है। क्योकि घट कपाल वगैरह पर्याय भी अनुभव सिद्ध हैं। तथा

तत्त्वं, अत स्यान्नास्तीतिभङ्गः एकएवेति सौगतमतमपि न युक्तियुक्तं, द्रव्यस्यापि प्रतीतिसिद्धत्वात्। एवमवक्तव्यमेव वस्तुतत्त्वमित्यवक्तव्यैकान्तोऽपि सदामौनव्रतिकोहमितिवत् स्ववचनबाधितः। एवमन्येषामप्येकान्तानां प्रतीतिबाधितत्वादनेकान्तवाद एव श्रेयान्।

ननु च—अनेकान्तेऽपि विधिप्रतिषेधरूपा सप्तभंगी प्रवर्तते न वा? प्रथमपक्षेऽनेकान्तस्य निषेधकल्पनायामेकान्त स्यादिति तत्पक्षोक्तदोषानुषङ्ग अनवस्था च। तादृशैकान्तस्याप्यपराने-

---

पर्याय ही तत्त्व है द्रव्य नही इसलिये "स्यान्नास्ति" नित्य पदार्थ कोई नही है—यह एक भग ही काफी है। बौद्धों का यह मत भी तर्क विरुद्ध है; क्योकि घट कपाल आदि पर्यायो मे मृत्तिका रूप द्रव्य नित्य अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार जिनकी यह मान्यता है कि वस्तु सर्वथा अवक्तव्य रूप ही है यह अवक्तव्य एकान्तवाद भी उनके खुद के वचन से ही विरुद्ध पड जाता है; क्योकि वे अवक्तव्य शब्द से वस्तु को कहते है तो सर्वथा अवक्तव्यपना कहां रहा? जैसे कोई कहे कि मैं मौनव्रती हूँ पर शब्द बोल भी रहा है तो उसका कहना स्ववचन-बाधित है। इस प्रकार अन्य भी सर्वथा एकान्तवादियों की मान्यता अनुभव विरुद्ध होने से अनेकान्तवाद ही युक्तियुक्त है।

शका—अनेकान्त में भी विधि-प्रतिषेध-रूप सप्तभगी की प्रवृत्ति है या नही। यदि है तब तो अनेकान्त के निषेध की कल्पना से एकान्त ही प्राप्त होगा; क्योकि अनेकान्त का निषेध एकान्त रूप ही होगा और उस हालत मे जो आपने एकान्त पक्ष मे दोष लगाए हैं वे आपको भी लगेगे और अनवस्था दोष का प्रसंग भी बनेगा, क्योंकि जैसे एकान्त के अन्य अनेकान्त की-

कान्तकल्पनया विधिप्रतिषेधयोरनिवार्य्यत्वात्। यदि सा न प्रवर्तते तर्हि निखिल वस्तु सप्तभङ्गीसमाक्रान्तमिति सिद्धान्तव्याघातः इति चेन्न, प्रमाणनयविवक्षाभेदात्तत्राऽपि तत्प्रवृत्तेः। तथाहि—एकान्तो द्विविध सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्तश्चेति। अनेकान्तोऽपि द्विविध. सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्तश्चेति। तत्र सम्यगेकान्तस्तावत्-प्रमाणविषयीभूतानेकधर्मात्मकवस्तुनिष्ठैकधर्मगोचरो धर्मान्तरानिषेधक.। मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्ममात्रावधारणेनान्याशेषधर्मनिराकरणपर। एवमेकत्र वस्तुन्यस्तित्वनास्तित्वादिनानाधर्मनिरूपणप्रवण प्रत्यक्षानुमानागमाविरुद्धः

कल्पना करने से विधि निषेध बराबर चलेंगे और कही विश्राम न मिलने से अनवस्था दोप से कैसे बचा जा सकेगा ? और यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करो अर्थात् अनेकान्त मे सप्त भगी की प्रवृत्ति नही होती तो सम्पूर्ण वस्तु समूह सप्तभगी न्याय से सबद्ध है-इस सिद्धान्त का व्याघात होगा ?

समाधान—ऐसा कहना सगत नही। क्योकि प्रमाण एव नय के भेद से अनेकान्त मे भी विधि-निषेध-कल्पना से सप्तभगी न्याय की अनेकान्त मे भी सिद्धि हो जाती है। वह सिद्धि इस प्रकार है-जैसे एकान्त के दो भेद हैं, पहला सम्यक् एकान्त और दूसरा मिथ्या एकान्त। इसी तरह अनेकान्त के भी दो प्रकार हैं-एक सम्यक् अनेकान्त और दूसरा मिथ्या अनेकान्त। सम्यक् एकान्त वह है जो अनेक धर्मात्मक पदार्थ के किसी एक धर्म का व्याख्यान करे परन्तु अवशिष्ट अन्य धर्मो का निराकरण न करे। और मिथ्या एकान्त उसे कहते है जो पदार्थ के एक ही धर्म को कहे तथा अन्य शेष धर्मो का निषेध करे। इसी तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण से अविरुद्ध एक वस्तु में अनेक धर्मो का निरूपण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है। एवं प्रत्यक्षादि

सम्यगनेकान्त । प्रत्यक्षादिविरुद्धानेकधर्मपरिकल्पनं मिथ्याने-

कान्तः । तत्र सम्यगेकान्तो नयः, मिथ्यैकान्तो नयाभासः, सम्य-
गनेकान्तः प्रमाणं, मिथ्यानेकान्तश्च प्रमाणाभास इति कथ्यते ।
तथा च सम्यगेकान्तसम्यगनेकान्तावाश्रित्य प्रमाणनयविव-
क्षाभेदात् स्यादेकान्तः, स्यादनेकान्तः, इत्यादिसप्तभङ्गाः कर-
णीयाः । इयं च सप्तभङ्गी नित्यत्वानित्यत्वैकत्वानेकत्वादि-
धर्मेष्वपि निरूपणीया । यथा स्यान्नित्यो घटः स्यादनित्यो घट
इतिमूलभगद्वयं , घटस्य द्रव्यरूपेण नित्यत्वात् पर्यायरूपेणाना-
नित्यत्वात् । तथैव स्यादेको घटः स्यादनेको घट इतिमूलभंग-

प्रमाणों से विरुद्ध जो एक वस्तु में अनेक धर्मों का निरूपण करे
वह मिथ्या अनेकान्त है । इनमे सम्यक् एकान्त तो नय है और
मिथ्या एकान्त नयाभास है । और इसी प्रकार सम्यक् अनेकान्त
प्रमाण माना गया है तो मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है–ऐसा
कहा गया है ।

इस प्रकार सम्यक् एकान्त और सम्यक् अनेकान्त का
आश्रय लेकर प्रमाण नय के भेद की योजना से किसी अपेक्षा
से अनेकान्त, किसी अपेक्षा से उभय किसी अपेक्षा से अवक्तव्य
है । कथचित् एकान्त अवक्तव्य, कथचित् अनेकान्त अवक्तव्य
और कथचित् एकात अनेकान्त अवक्तव्य है–इस तरह सात भग
करने चाहिए । और इस सप्त भगी को नित्यत्व, अनित्यत्व,
एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों मे भी इसी तरह प्रयुक्त करना
चाहिए । जैसे कि घट कथचित् नित्य है, कथचित् अनित्य है–
ये दो मूल भग है; क्योकि घट द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय
रूप से अनित्य है । एकत्व तथा अनेकत्व सप्तभगी की योजना
इस प्रकार है–कथचित् घट एक है और कथचित् अनेक है–ये दो
मूल भग है । यहा द्रव्य रूप से घट एक ही है; क्योंकि एक

द्वयं । मृद्द्रव्यरूपेण घटस्यैकत्व स्थासकोशकुसूलादिपर्यायेषु तस्यैकत्वात् । पर्यायरूपेणानेको घट. रूपरसाद्यनेकपर्यायात्मकत्वाद् घटस्य ।

नन्वयमनेकान्तवादश्छलमात्रमेव, तदेवास्ति तदेवनास्ति तदेव नित्य तदेवानित्यमिति प्ररूपणारूपत्वादस्येति चेन्न–छललक्षणाभावात् । अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तर परिकल्प्य दूषणाभिधान छलमिति छलसामान्यलक्षणं । यथा नवकम्बलोऽयं देवदत्त इतिवाक्यस्य नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरमाशक्य कश्चिद् दूषयति नास्य नव कम्बला: सन्ति दरिद्रत्वात् । द्विकम्बलवत्वमपि न सभाव्यतेऽस्य कुतो नवेति ।

मृत्तिका रूप द्रव्य पिण्ड सम्पूर्ण पर्यायो मे अनुगत है और वह ऊर्ध्वता सामान्य रूप है । पर्याय रूप से घट अनेक है; क्योकि घट रूप रस गन्ध तथा स्पर्श आदि अनेक पर्यायात्मक है ।

शका–यह अनेकान्तवाद मात्र छल है । वही है–वही नही है वही नित्य है–वही अनित्य है–अनेकान्तवाद इस तरह निरूपण करता है । अत मात्र छल है ।

समाधान–ऐसा कहना युक्त नही; क्योकि अनेकान्तवाद मे छल का लक्षण नही घटता । छल का सामान्य लक्षण है अन्य अभिप्राय से कहे गए शब्द का अन्य अर्थ कल्पना कर दूषण देना । जैसे कि यह देवदत्त नव कबल युक्त है । यहां नव का अर्थ नवीन अभिप्राय से कथित नव शब्द को अन्य अर्थ मे कल्पना करके कोई दूषण देता है कि देवदत्त के नो कम्बल कहां से आए; क्योकि वह दरिद्री है । इसके तो दो कबलों की ही संभावना नही तो नो कहा से हो सकते हैं ? इस तरह के छल के लक्षण का अनेकान्तवाद मे कोई प्रसग ही नही है;

अनेकान्तवादे तु तादृशलक्षणस्य प्रसंग एव नास्ति।

अथ सशयहेतुरनेकान्तवादः, एकस्मिन् वस्तुनि विरुद्धानामस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणामसंभवात्। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्याकारक ज्ञान सशय, एकधर्मिविशेष्यकस्थाणुत्वतदभावप्रकारकज्ञानत्वात् तथैवाऽयमपि, इति चेन्न—विशेषलक्षणोपलब्धे। संशयो हि सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च जायते। अनेकान्तवादे तु विशेषोपलब्धिरप्रतिहता एव। स्वरूपपररूपादिविशेषाणां प्रत्यर्थमुपलंभात्। तस्माद् विशेषोपलब्धेरनेकान्तवादो न सशयकारणमिति।

क्योंकि यहा अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द की अन्य अर्थ मे कल्पना का अभाव है।

अब अगर कोई यह कहे कि अनेकान्तवाद तो सशय का कारण है; क्योंकि एक ही वस्तु में अस्तित्व तथा नास्तित्व परस्पर विरोधी धर्म संभव नही है। जैसे यह ठूठ है या पुरुष इस प्रकार के ज्ञान को सशय कहते है; क्योकि एक ही पदार्थ में स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व दो कोटियों को स्पर्श किया गया है। इसी तरह परस्पर विरोधी अस्तित्व नास्तित्व धर्मों का अनेकान्त मे विवेचन है अत. वह संशय का कारण है। ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योंकि अनेकान्तवाद के विशेष लक्षण की उपलब्धि है। संशय तो सामान्य अंश के प्रत्यक्ष तथा विशेष अंश के अप्रत्यक्ष और विशेष की स्मृति होने से होता है। अनेकान्तवाद में तो विशेष अंश की उपलब्धि अक्षुण्ण ही है; क्योंकि स्वरूप पररूप विशेषों की उपलब्धि प्रत्येक पदार्थ में है। अतः विशेष की उपलब्धि से अनेकान्तवाद संशय का कारण नही है।

ननु–अनेकान्तवादे विरोधादयोऽष्टौ दोषाः सभवन्ति। तथाहि–एकात्रार्थे विधिप्रतिषेधरूपयोरस्तित्वधर्मयोर्न सभव । भावाभावयो परस्पर विरोधादिति विरोधदोष । अस्तित्वस्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्यदित्यस्तित्वनास्तित्व योर्वैयधिकरण्यम्–तस्य विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वादिति द्वितीयो दोष । येन रूपेणास्तित्व येन च रूपेण नास्तित्व तादृशरूपयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व वक्तव्य, तच्च स्वरूपपररूपाभ्या, तयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व स्वरूपपररूपाभ्यामित्यनवस्था । अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनाविश्रान्त्यभावोऽनवस्थेति प्रोच्यते । येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वस्यापि प्रसङ्ग. । येन रूपेण चासत्त्व तेन रूपेण सत्त्व-

---

शका–अनेकान्तवाद मे तो विरोध आदि आठ दोषो की सभावना है फिर उस अनेकान्तवाद को श्रेष्ठ कैसे माना जाय ? जैसे कि एक पदार्थ मे विधि-प्रतिषेध-रूप अस्तित्व तथा नास्तित्व रूप धर्म सभव नही हो सकते, क्योकि भाव और अभाव का परस्पर विरोध है। इस तरह अनेकान्त मे विरोध दोष आता है। अस्तित्व का अधिकरण अलग होता है तो नास्तित्व का अलग। इस तरीके से अस्तित्व और नास्तित्व की वृत्ति भिन्न भिन्न अधिकरण मे है। अत अनेकान्त मे वैयधिकरण दोष है क्योकि उसका लक्षण भिन्न भिन्न अधिकरण वृत्तिता रूप है। तथा जिस रूप से अस्तित्व है और जिस रूप से नास्तित्व है–उन दोनो रूपो को भी प्रत्येक को अस्तित्व तथा नास्तित्व रूप कहना चाहिये और वह अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप एव पररूप से होता है। और उन स्वरूप तथा पररूप को भी प्रत्येक को अस्तित्व तथा नास्तित्व रूप स्वरूप तथा पररूप से होना चाहिए—इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसग आता है, क्योकि असत्य पदार्थो की परम्परा से कल्पना करते

स्याऽपि प्रसक्तिरिति सङ्कर:। सर्वेषां युगपत्प्राप्ति: सङ्कर इत्य-
भिधानात्। येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु
सत्त्वं, येन रूपेणासत्त्वं तेन सत्त्वमेव स्यान्नत्वसत्त्वमिति व्यति-
कर:, परस्पर विषयगमनं व्यतिकर इति वचनात्। सत्त्वासत्त्वा-
त्मकत्वे च वस्तुन इदमित्थमेवेति निश्चेतुमशक्ते: संशय:।
ततश्चानिश्चयरूपाऽप्रतिपत्ति:। तत सत्त्वासत्त्वात्मनो वस्तुनो-
ऽभाव इति।

अत्रोच्यते-विरोधो ह्यनुपलभसाध्य:। वस्तुनि स्वपररूपा-

जाना कही विराम न लेना ही अनवस्था दोष कहलाता है।
जिस रूप से सत्व है उसी रूप से असत्व का भी
प्रसंग है और जिस रूप से असत्व है उसी रूप से सत्व
की भी प्राप्ति है—इसलिए अनेकान्त संकर दोष से दूषित है;
क्योंकि एक वस्तु में एक ही समय में सब धर्मो की प्राप्ति होना
संकर दोष कहलाता है। जिस रूप से सत्त्व है उस रूप से
असत्त्व ही रहेगा न कि सत्व और जिस रूप से असत्त्व है उस
रूप से सत्त्व ही होगा न कि असत्त्व—इस तरह व्यतिकर दोष
का प्रसंग आता है। क्योंकि परस्पर विषय गमन को ही व्यति-
कर दोष कहते है। एवं एक ही पदार्थ सत्त्व असत्त्व दोनो रूप
होने से यही है, इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय न होने से संशय
दोष आता है और जब वस्तु संशय दोष से ग्रसित है तो अनि-
श्चय रूप अप्रतिपत्ति' नामका दोष आता है और उससे सत्त्व
असत्त्व रूप वस्तु का ही अभाव हो जाता है। इस तरह अने-
कान्तवाद आठ दोषों से युक्त होने से कैसे समीचीन सिद्ध हो
सकता है?

समाधान—अनेकान्त में कोई दोष नहीं आता। सर्व प्रथम
विरोध दोष दिखाया गया है पर अनेकान्त में वह संभव नही

द्यपेक्षया कथञ्चित्प्रतीयमानयो सत्त्वासत्त्वयोः को विरोध ।
न हि स्वरूपादिना वस्तुन. सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्या-
नुपलभोऽस्ति, द्वयोर्निर्वाधमुपलभात् ।

विरोधो हि त्रिधा व्यवतिष्ठते—एको वध्यघातकभावलक्षणो
यथा अहिनकुलयोर्जलानलयोर्वा । द्वितीय सहानवस्थानरूपो
यथा एकस्मिन्नाम्रफले श्यामतापीततयो । अनयो सहावस्था-
नासभवात् । तृतीय प्रतिबध्यप्रतिवन्धकभावात्मा यथा सति
मणिरूपप्रतिबन्धके वह्निना दाहो न जायते इति मणिदाहयो'
प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाख्यो विरोध । त्रिविधोऽप्येष विरोधो-
ऽस्तित्वनास्तित्वयोर्वस्तुनि सर्वंक्षनुभूयमानयोर्न प्रतीतिगोचरो
भवति ।

है क्योकि विरोध का साधक अभाव होता है । वस्तु मे स्वरूप
पररूप आदि की अपेक्षा से कहे जाने वाले और दिखाई पडने
वाले सत्त्व और असत्व का विरोध है ही कहा । स्वरूपादि की
अपेक्षा से वस्तु का सत्त्व होने पर भी उसी समय पररूप आदि
से असत्त्व की अप्राप्ति नही है । स्वरूपादि से मत्त्व की तरह
पररूपादि से असत्त्व भी अनुभव सिद्ध है ।

विरोध तीन तरह से हुआ करता है । पहला बध्यघातक-
भाव लक्षणवाला है अर्थात् एक के बध्य और दूसरे के घातक
होने से होता है जैसे कि साप-नकुल का तथा अग्नि और जल
का होता है । दूसरा विरोध एक साथ स्थिति न होने रूप होता
है जैसे कि आम के फल मे श्यामता और पीलेपन का—यह दोनो
एक साथ नही रह सकते । तीसरा विरोध प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक
भाव रूप होता है— जैसे कि प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के
रहते हुये अग्नि से जलाने रूप क्रिया नही होती । इसलिए मणि
तथा दाह मे प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव नामक विरोध है ।
स्वरूप से वस्तु के अस्तित्व काल मे भी पररूपादि से नास्तित्व
की प्रतीति भी सदा प्रतीति सिद्ध होने से अनेकान्त मे यह तीनो
ही प्रकार का विरोध नही आता ।

एतेन वैयधिकरण्यमपि निरस्तं सत्त्वासत्त्वयोरेकाधिकरण-तया प्रतीतिसिद्धत्वात्। अनवस्थादोषोऽपि नानेकान्तवादिनां सभवति। अनन्तधर्मात्मकवस्तुन स्वयं प्रमाणप्रतिपन्नत्वेना-भ्युपगमात् नाप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनारूपमनवस्था-नम्। एतेन संकरव्यतीकरावपि प्रत्युक्तौ, प्रतीतिसिद्धे कस्यापि दोषस्याभावात्। दोषा हि प्रतीत्यसिद्धपदार्थगोचरा भवन्ति। प्रतीतिसिद्धे संशयाऽप्रतिपत्यभावानामप्यवकाशो नास्तीति पूर्वोक्ताष्टदोषसंभावनालेशोऽपि न विद्यते। इमामनेकान्तप्रक्रिया प्रवादिनोऽपि स्वीकुर्वन्त्येव।

इस पूर्व कथन से वैयधिकरण्य दोष का भी खंडन हो गया, क्योंकि एक अधिकरण में ही अपेक्षा भेद से सत्त्व तथा असत्त्व की स्थिति प्रतीति का विषय है।

और जो अनवस्था नामका दोष बताया था वह भी अनेकान्त-वादियो के प्रवेश नहीं पाता; क्योंकि वे स्वयं वस्तु को परस्पर विरोधी अनेक धर्म स्वरूप प्रमाण से सिद्ध स्वीकार करते हैं— अत: अप्रमाणीक अनेक पदार्थों की परंपरा की कल्पना का यहां सर्वथा अभाव ही है।

इसी पूर्वोक्त कथन से संकर तथा व्यतिकर दोनों दोष भी खंडित हो गए; क्योंकि पदार्थ अनुभव सिद्ध होने पर किसी भी दोष को अवकाश नहीं मिलता। जब पदार्थ की सिद्धि अनुभव से विरुद्ध होती है तभी दोषों का संचार होता है। संशय,अप्रति-पत्ति तथा अभाव दोषों का भी प्रतीति-सिद्ध पदार्थों में संचार नहीं होता। इस तरह अनेकान्त में आठों दोषों की लेशमात्र भी संभावना नही है।

इस अनेकान्त प्रक्रिया को अन्यमत वाले भी स्वीकार करते

त्वाद्विशेष । तथैकमेव द्रव्यत्वं जातिः सत्तापेक्षयाऽपरा, पृथि-
त्वाद्यपेक्षया च परा, इत्येकस्य परापरात्मकत्वमभ्युपगतम् ।
एवं च सामान्यविशेषात्मकत्वमेकस्य स्वीकृतम् । तथैव गुणत्वं
कर्मत्व सामान्यविशेष इति ।

सौगता अपि मेचकज्ञानमेकमनेकाकार प्रतिपादयन्ति । पंच-
वर्णात्मकं रत्न मेचकं । तज्ज्ञानं नैकप्रतिभासात्मकमेव चित्र-
ज्ञानत्वविरोधात् । नीलपीतादिनानाकारज्ञानं हि चित्रज्ञान न
त्वेकाकारमेव, नापि मेचकज्ञानमनेकमेव मेचकज्ञानमिदमित्य-
नुभवविरोधात् । इमानि मेचकज्ञानानीत्यनुभवप्रसंगाच्च ।
ततश्चैकानेकात्मक चित्रज्ञानं सौगतादीनामभीष्टमेव ।

ही द्रव्यत्व जाति सत्ता की अपेक्षा अपर है और पृथिवी वगैरह
की अपेक्षा से पर है, इस प्रकार एक ही जाति को पर और
अपर रूप स्वीकार किया है । इस तरह यौगों ने एक पदार्थ को
सामान्य विशेष रूप माना है ऐसे ही गुणत्व तथा कर्मत्व भी
सामान्य विशेष रूप है-यह समझ लेना चाहिए ।

बौद्ध मतावलम्बी भी मेचक मणि के ज्ञान को एक
और अनेक रूप स्वीकार करते है । पंच रग वाले रत्न को मेचक
कहते है । उस मणि का ज्ञान एक प्रतिभास स्वरूप माना नही
जा सकता; क्योंकि चित्र ज्ञानत्व का विरोध है- नीला पीला
वगैरह अनेक प्रकार का ज्ञान ही चित्रज्ञान है-न कि एक आकार
का ज्ञान । मेचक ज्ञान को अनेक पदार्थ विषयक भी नहीं कह
सकते, क्योकि यह मेचक ज्ञान है-इस अनुभव के विरोध का
प्रसंग उपस्थित होगा-और ये मेचक ज्ञान हैं ऐसे बहुवचन के
अनुभव का प्रसंग होगा । इसलिए चित्रज्ञान को बौद्धों ने एक
तथा अनेक स्वरूप माना ही है ।

मीमासका अपि प्रमातृप्रमितिप्रमेयाकारमेकं ज्ञानं घटमहं जानामीत्यनुभवात् स्वीकुर्वन्तीत्येवं रीत्या मतान्तरेष्वनेकान्त-प्रक्रियाऽनुभवसिद्धा वर्तत एवेति सर्वत्रानेकान्तशासनं जयति ।

अहिंसातत्त्वम्

स्याद्वादनिरूपणानन्तरमधुना जैनाचारस्याधारभूताया: अहिंसाया: विवेचन क्रियते। हिंसाया अभावरूपाह्यहिंसा अतो हिंसास्वरूपज्ञानमन्तरेणाहिंसाया ज्ञान न स्यात्। भावज्ञानं विनाऽभावज्ञानसंभवादिति तावद् हिंसाया. स्वरूपं कथयितु-मुपक्रमे।

मीमासक मत वाले भी 'मै घट को जानता हूँ' इस अनुभव के कारण एक ही ज्ञान को प्रमाता, प्रमिति एव प्रमेय रूप स्वीकार करते है। इस तरह अन्य मतो मे भी अनेकान्त प्रक्रिया अनुभव सिद्ध है ही।

इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त सर्वत्र व्यापक है और निर्दोष है।

अहिंसा तत्व

स्याद्वाद का वर्णन करने के बाद अब जैनाचार का प्राण अहिंसा का कथन किया जाता है। हिसा का अभाव अहिंसा है। इसलिये हिसा के स्वरूप का ज्ञान हुए विना अहिसा का ज्ञान नही हो सकता। भाव का ज्ञान हुए विना अभाव का ज्ञान नही होता, इसलिए सर्व प्रथम हिंसा का लक्षण कहा जाता है।

प्रमत्तयोगहेतुकप्राणव्यपरोपणलक्षणा हिंसा । प्रमत्तयोगो हि कषायसम्बन्धः । प्राणाश्च द्रव्यभावभेदेन द्विविधाः द्रव्यप्राणाः पञ्चेन्द्रियाणि, मनोवाक्कायबलानि, श्वासोच्छ्वास-आयुश्चेति दश । तत्रैकेन्द्रियस्य चत्वारो, द्वीन्द्रियस्य षट्, त्रीन्द्रियस्य सप्त, चतुरिन्द्रियस्याष्टौ, निर्मनस्कपञ्चेन्द्रियस्य नव, समनस्कपञ्चेन्द्रियस्य दश द्रव्यप्राणा भवन्ति । भावप्राणास्तु चैतन्यात्मकाः । एतेषा यथा संभवं व्यपरोपणकरण हिंसा । प्राणव्यपरोण हि प्राणवियोगः । प्रमत्तयोगहेतुकत्वे सति प्राणवियोगत्वं हिंसायाः लक्षणं । अन्यतराभावे हिंसाभावज्ञापनार्थमुभयमुपादीयते । प्रमत्तयोगाभावे केवलस्य प्राणवियोगस्य हिंसात्वाभावात् ।

दुर्भावना से अपने तथा पर के प्राणों का घात करना हिंसा है । प्रमाद योग का अर्थ है कषायों का सम्बन्ध होना–भावों का मलिन होना । प्राण दो प्रकार के हैं–द्रव्यप्राण और भावप्राण । द्रव्यप्राण दश है–पाच इन्द्रियां, मनबल, बचन-बल, काय-बल, आयु और श्वासोच्छ्वास । इनमें से एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण, दो इन्द्रिय के छह, तीन इन्द्रिय के सात, चार इन्द्रिय के आठ, असैनी पचेन्द्रिय के नौ तथा सैनी पचेन्द्रिय के दश प्राण होते हैं । भाव प्राण चैतन्य स्वरूप हैं । जिस जीव के जितने प्राण संभव हैं उनका घात करना हिंसा है । प्राण-व्यपरोपण का अर्थ निश्चय से प्राणों का घात करना है । प्रमाद के सम्बन्ध रूप कारण के होने पर प्राणों का बिछुड़ना हिंसा का लक्षण है । दोनो में से एक के न होने पर हिंसा नही होती यह बताने के लिए दोनों का ग्रहण किया जाता है । दुर्भावना न हो–केवल प्राणों का वियोग हो वहां हिंसा नहीं होती ।

ननु नैतत् समीचीन, प्राणव्यपरोपणाऽभावेऽपि प्रमत्तयोग-मात्रादेव तत्र हिंसाया प्रोक्तत्वात् ।

नैष दोषस्तत्रापि भावलक्षणस्य प्राणव्यपरोपणस्य सद्भा-वात् । सकषायो ह्यात्मा पूर्वं स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्ति । पश्चादन्येषा वधो भवेद् मा वा भवेत् ।

ननु जले स्थले चाकाशे जन्तुसद्भावादयं लोकः सर्वत्र जन्तु-मालाकुल । तत्र चरन् साधु कथमहिंसकः स्यात् । सर्वत्र जीव-व्यपरोपणसंभवादिति चेन्न—आत्मतत्त्वपरायणस्य साधोः कषाय-योगाभावादहिंसकत्वमेव ।

किञ्च द्विविधा प्राणिनः, सूक्ष्मा स्थूलाश्च । ये सूक्ष्मास्ते

शकाकार का कहना है कि यह कहना ठीक नही । प्राणों का घात हुए विना भी मात्र दुर्विचारों से भी हिंसा कही जाती है ।

यह दोष नही है । वहा भी भावरूप प्राणो का वियोग होता है । निश्चय से जब आत्मा कषाय सहित होता है प्रथम वह अपने ही द्वारा अपने आपका घात करता है फिर दूसरो का मरण हो या न हो ।

शकाकार शका करता है कि जल मे, पृथ्वी पर तथा आकाश मे जीव मौजूद होने से यह लोक सब जगह जीवो के समूह से भरपूर है । उनमे होकर चलने वाला साधु सब जगह जीवो का घात होने से अहिंसक कैसे हो सकता है ? ऐसा कहना ठीक नही, आत्म-निष्ठ साधु के प्रमाद का सद्भाव न होने से अहिंसकपना ही है ।

दूसरी बात यह है कि स्थूल और सूक्ष्म दो तरह के जीव होते हैं । जो सूक्ष्म है उन्हे बचाया नही जा सकता, क्योकि

विवर्जयितुमशक्या, ग्रदृश्यत्वात्तेषां। ते तु 'परस्परं संघर्षेऽपि न पीड़ामवाप्नुवन्ति। ततस्तेषा संघर्षेऽपि न परत: प्राणव्यपरोपणासंभावना। तेषां स्यायुषः क्षयात् स्वयमेव मरणात्। ये तु स्थूलास्ते संयताचरणेन योगिना विवर्जयितुं शक्यन्ते इति न कदापि सयतात्मनो हिंसा संभवेत्। तस्यात्मपरिणतौ हिंसा-प्रवृत्त्यभावात् कथ हिंसा स्यात्। पुण्यपापकारण हि भावस्तथाचोक्तं—

भावोहि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभ इति।

अन्यच्च-

विष्वग्जीवचिते लोके,क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत ?
भावैकसाधनौ बन्ध–मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्।"

वे दिखाई नही पडते। वे तो ग्रापस मे टकरा कर भी पीड़ा का ग्रनुभव नही करते। इसलिए उनके रोदे जाने पर भी पर के द्वारा उनके प्राणों का उच्छेद नही होता। उनका तो ग्रपनी ग्रायु के नाश से ही मरण होता है। ग्रौर जो स्थूल है वे सयमी साधु के द्वारा बचाए जाते ही हैं–इस तरह सयमी के कभी हिंसा नही होती। उसके भावो मे हिंसा की प्रवृत्ति न होने से हिंसा कैसे हो ? भाव ही पुण्य ग्रौर पाप के कारण होते हैं। जैसा कि कहा है—

"शुभ भाव पुण्य का कारण है ग्रौर ग्रशुभ पाप का"।

ग्रौर भी—

यदि बन्ध ग्रौर मोक्ष का एक मात्र कारण भाव नहीं माना जाता तो जीवों से लबालब भरे हुए इस संसार में किसी का भी मोक्ष नहीं होता।

अत एव कृषिकार्येऽनिवार्य्यां हिंसा कुर्वतोऽपि कृषकाज्जला-शयतटे मत्स्यादीन् गृहीतु सन्निषण्णो धीवरो जाले मत्स्याग-मनाभावात्ताननघ्नन्नपि उच्चै पाप प्रोक्तो जैनागमे, कृतहिंसा-संकल्पत्वात्तस्य। कृषकस्तु न तादृश, स हि केवलं कृषिकार्य-मेव करोति। न तु जीवहिंसासंकल्पस्तस्य, अत एव यथाशक्ति तत्रागतान् प्राणिनो रक्षत्यपि। तथा चोक्तं—

आरंभेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥

तत प्राणव्यपरोण तदैव हिंसा भवति यदा तद्रागादि-कषायप्रेरित भवेत्। रागाद्यावेशाभावे तु प्राणव्यपरोपणे सत्य-

---

इसीलिये जिनवाणी मे खेती मे अनिवार्य हिंसा करते हुए भी किसान से वह भील जो सरोवर के किनारे मछलियों को पकडने के लिए बैठा हुआ जाल मे मछलियो के न फसने से उन्हे नही मारता हुआ भी ज्यादा पापी कहा गया है। क्योंकि उसका इरादा हिंसा करने का है। किसान तो वैसा नही है—वह तो मात्र खेती करता है—उसका जीव हिंसा का इरादा नही है, और यथाशक्ति खेती मे आए हुए जीवों को बचाता भी है। जैसा कि कहा है—

विवेकी मनुष्य को चाहिए कि वह सदा किसी भी कार्य मे जान बूझकर हिंसा न करे। जीवो की हिंसा करने वाले किसान से जीवो को नही मारता हुआ भी भील ज्यादा पापी है।

इसलिये प्राणो का घात तभी हिंसा का कारण है जब वह रागादि कषायो के द्वारा सम्पन्न हो। रागद्वेषादि भावो के बिना तो प्राणो का घात हो जाने पर भी हिंसा नही होती।

पि न हिंसा भवति, ततो भावहिंसैव मुख्यतो हिंसा प्रोच्यते। रागाद्यावेशे सति नु जीवो म्रियतां मा वा म्रियतां, हिंसाऽवश्यमेव भवति। यदि कषायोऽस्ति निश्चितं हिंसा। आत्मनः सूक्ष्माऽपि हिंसा परवस्तुनिबंधना न भवति। अत एव कश्चन हिंसामकृत्वाऽपि हिंसाफलभाग्भवति तादृशपरिणामसद्भावात्। अपरो हिंसा कृत्वाऽपि हिंसाफलभाजन न स्यात्, कषायरूपपरिणामाभावात्। एकस्याऽल्पा हिंसा परिपाकेऽनल्पं फलं ददाति तीव्रकषायत्वात्। अन्यस्य महाहिंसाऽपि परिपाके स्वल्पफला भवति मन्दकषायत्वात्। सैव हिंसैकस्य तीव्रफलं दिशति अपरस्य च मन्दं। सहकारिणोरपि मनुष्ययोरेकैव हिंसा फलकाले वैचित्र्यमादधाति। कदाचिद्धिंसामेक. करोति तस्या. फलभा-

---

इसलिए भावहिंसा को ही मुख्य रूप से हिंसा कहा जाता है। राग भाव के होने पर तो जीव मरे वा न मरे हिंसा अवश्य ही होती है। यदि कषाय हो तो हिंसा निश्चित है। पर पदार्थों के कारण आत्मा को जरासी भी हिंसा नहीं होती। इसीलिये कोई हिंसा न करके भी हिंसा के फल को भोगता है; क्योंकि उसके भाव हिंसा करने के हैं। दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल का पात्र नहीं होता क्योंकि उसके भाव कषाय रूप नहीं है। एक को थोडी सी हिंसा फल देते समय महान् फल देती है क्योंकि कषाय की तीव्रता है। दूसरे को महान् हिंसा भी बहुत कम फल देती है; क्योंकि कषाय की मन्दता है। वही हिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरे को थोड़ा। दो मनुष्यों द्वारा एक साथ की गई हिंसा फल देते समय विचित्रता को प्राप्त होती है-अर्थात् एक को हिंसा का फल मिलता है-दूसरे को अहिंसा का। कभी कभी हिंसा एक करता है और उसके फल

जस्तु बहवो भवन्ति । कदाचिद् बहवो हिंसा विदधति, हिंसा-फलाभाक्त्वेक एव भवतीत्याद्यनेकानि वैचित्र्याणि हिंसाविषये प्रपश्यता जनेन हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेनाववुध्याव-श्यमेव हिंसा त्याज्या । तथा चोक्तं —

हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः ।
हिंसां तथोज्भेन्न यथा, प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥१॥
प्रमत्तो हिंसको, हिंस्या–द्रव्यभावस्वभावकाः ।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा, तत्फलं पापसञ्चयः ॥२॥

मन्त्रौषधिदेवतायज्ञातिथिभोजनाद्यर्थं कृताऽपि हिंसा हिंसैव तत्फलमपि तीव्रपापसञ्चय एव । तथापि हिंसा पाप विजान-

---

भोगने वाले अनेक होते है। कभी अनेक लोग हिंसा करते है पर हिंसा का फल एक को प्राप्त होता है। इस तरह हिंसा के सम्बन्ध में अनेक विचित्रताओ को देखते हुए प्राणी को हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा–फल को अच्छी तरह जानकर हिंसा का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए।

"हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल इन चारो को अच्छी तरह समझ कर हिंसा इस तरह त्याग दे जिससे की गई प्रतिज्ञा का भंग न हो।

प्रमादी जीव हिंसक कहलाता है। द्रव्यप्राण और भाव-प्राण हिंस्य है। प्राणो का वियोग करना हिंसा है और उससे पापो का सचय होना हिंसाफल है।

मन्त्र, दवा, देवता, यज्ञ, अतिथि, भोजन वगैरह के लिए की गई हिंसा भी हिंसा ही है और उसका फल भी पापों का तीव्र सचय ही है। किसी के लिए भी की गई हिंसा पाप ही है,

न्तोऽपि केचिद् प्रतिपादयन्ति यद् धर्माद्यर्थं हिंसायां न कश्चिद् दोषो विद्यते ।

अपरे कथयन्ति–धर्मो हि देवताभ्यः समुत्पद्यते, अतो देवतार्थं विहिता हिंसा न पापाय ।

अन्ये च केचिद् व्याहरन्ति–पूज्यनिमित्तं कृतोऽजादीनां घातो न दोषाय, अतोऽतिथ्यर्थं सत्त्वसंज्ञपनमवश्यमेव विधेयम् ।

अपरे च जल्पन्ति–बहुसत्त्वघातसमुत्पन्नादाहारादेकसत्त्वघातोत्थं भोजन वरमिति महासत्त्वस्यैकस्य हिंसनं युक्तिसङ्गतम् ।

केचिच्च मन्यन्ते-एकस्यैव हिंस्रजीवस्य विनाशेन बहूनां रक्षा भवति, अतो हिंस्रजीवाना हिंसनमवश्यमेव कर्तव्यमिति,

---

ऐसा जानते हुए भी कई लोग कहते है कि धर्म वगैरह के लिए को गई हिसा मे कोई पाप नहीं लगता ।

दूसरे कहते हैं कि धर्म निश्चय से देवों से उत्पन्न होता है; इसलिए देवता के निमित्त की गई हिसा से पाप नही होता ।

दूसरे कई कहते है कि पूज्य पुरुषो के लिए बकरे वगैरह के मारने में कोई दोष नही; इसलिए अतिथि के लिए जीव हिंसा अवश्य करनी चाहिए ।

और दूसरे मानते हैं कि बहुत से जीवों की हिसा से पैदा हुए भोजन से एक जीव की हिसा से पैदा हुआ भोजन उत्तम है; इसलिए एक बड़े जीव का घात करना उचित है ।

और कई ऐसा मानते हैं कि एक ही हिंसक जीव सिंह वगैरह के मार देने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है, अतः हिंसक जीवों की हिंसा करना परमावश्यक है । अथवा बहुत से जीवों

अथवा बहुजीवघातिनोऽमी हिंस्रा जीवन्तो गुरूपापं समुपार्जं-यन्ति तेषा बधोऽनुकम्पैव तदुपरीति वदन्ति ।

केचित्– ये जीवा बहुदु.खिनः सन्ति तेषा बध एव तद्दुःख-मुक्तिरिति, अथवा जीवाना सुखप्राप्तिर्दुर्लभेति सुखिनो हता· सुखावशेषात् सुखिन एव तिष्ठन्तीति समाचक्षते ।

केचित्—समाधिस्थितस्य गुरो सुधर्माभिलाषिणा शिष्येण शिरस कर्त्तने स परब्रह्मावाप्नोतीत्यवश्यमेव तच्छिर· कर्तनीय-मित्यूहते ।

केचित्—यथा घटविनाशे घटे स्थितश्चटक उड्डीय स्वाभिल-षित्त देश गच्छति तथैव शरीरविनाशे तत्स्थित आत्मा ततो

घात करने वाले ये हिंसक जीव यदि जिंदा रहेंगे तो महान् पाप उपार्जन करेंगे । उनको मार देना, उन पर दया करना ही है । ऐसा कहते हैं ।

कई ऐसा कहते है कि जो जीव अत्यन्त दुखी हैं–उनको मार देना ही उस दु ख से उनको मुक्ति दिलाना है । अथवा जीवो को सुख प्राप्त होना कठिन है अत. उन सुखी जीवों को सुख शेष रहते हुए मार दिया जाय तो भविष्य मे भी वे सुखी होगे ।

कई ऐसा तर्क करते है कि श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति चाहने वाले शिष्य के द्वारा जब उसका गुरू ध्यान मे तल्लीन हो गुरू का माथा काट देने से वह गुरू परम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता हैं, इसलिए अवश्य ही गुरू का मस्तक काट देना चाहिए ।

कई थोडे से धन के प्यासे खारपटिक मतवाले कहते हैं कि जैसे घडे के फोड देने से घडे मे बन्द चिडिया उडकर अपने मन पसन्द स्थान को चली जाती है उसी प्रकार शरीर का नाश

निःसृत्य यथायोग्यं स्थानं गच्छतीति सधनहनने न कश्चन दोष इति धनलवपिपासिताः खारपटिकाः भाषन्ते।

केचित्—यदि कश्चन बुभुक्षया मरणासन्नो भोजनार्थमायातर्हि तद्रक्षणबुद्ध्या स्वशरीरमांसदानमपि धर्माय जायत इति निगदन्ति।

इमे च सर्वेऽहिंसाभासा एव नत्वहिंसा। एतेषां स्वतो हिंसारूपत्वादननुकूलत्वाच्च। न च कदाप्यहिंसा हिंसाजन्या संभवेत्। यस्मैकस्मैचित्प्रयोजनाय येनकेनाऽपि प्रकारेण कृतं जीवहननं हिंसैव।

हिंसा द्विविधा–सांकल्पिकी, असांकल्पिकी च। मनसा वाचा कर्मणा कृतकारितानुमोदनैश्च संकल्पाद् या हिंसा क्रियते सा

कर देने पर उसमे रहने वाली आत्मा उसमें से निकलकर यथायोग्य स्थान पर पहुँच जाती है। इसलिए धनवानो के मार देने में कोई दोष नही है।

कई कहते है कि अगर कोई भूख से मर रहा हो और अगर वह भोजन के लिए आवे तो उसकी रक्षा के खयाल से अपने शरीर का मांस देना भी धर्म का कारण है।

ये सबकी सब मान्यताएं अहिंसा भास ही है न कि अहिंसा। ये मान्यताएं अपने आप मे हिंसा रूप है और इसीलिए धर्म के प्रतिकूल हैं। तीनों कालों मे भी कभी हिंसा से अहिंसा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। चाहे जिस प्रयोजन के लिए अथवा जिस किसी प्रकार से किया गया जीवघात हिंसा ही है।

हिंसा के दो प्रकार हैं-एक सांकल्पिकी, दूसरी असांकल्पिकी। मन वचन काय के द्वारा और कृत कारित अनुमोदना के द्वारा इरादा करके जो हिंसा की जाती है वह सांकल्पिकी

साकल्पिकी । हिंसासंकल्पजन्यत्वात् । हिंसासंकल्पाभावेऽपि या गृहिणोऽनिवार्य्या हिंसा भवति साऽसांकल्पिकी । सा च त्रिविधा-आरंभजन्या, उद्योगजन्या, विरोधजन्या चेति । पञ्चसूनासु गृहनिर्माणादिषु च या गृहस्थस्याऽनिवार्य्या हिंसा साऽऽरंभजन्या । जीविकोपायस्वरूपन्यायानुकूलाऽहिंसकोद्योगजन्या द्वितीया । इतराक्रमणे स्वस्वकीयरक्षार्थं याऽनिवार्य्या हिंसा जायते सा विरोधजन्या । आसु चतसृषु हिंसासु गृही केवलां साकल्पिकी हिंसां प्रत्याख्याति । अपरास्तिस्रस्तु तज्जीवनोपयोगित्वान्न हातुं शक्यन्ते गृहावस्थापर्यन्तम् ।

इमे चत्वारो हिंसाया भेदा गृहस्थापेक्षया । मुनिजीवने तादृशभेदासंभवात् । यस्याऽऽत्मानं विहाय न किमपि स्वं स्वकीयं वा

हिंसा है, क्योकि वह हिंसा इरादतन होती है । हिंसा करने का इरादा न होने पर भी गृहस्थी के द्वारा जो हिंसा टालना सभव नही वह असाकल्पिकी हिंसा है । वह तीन प्रकार की है । आरभी, उद्योगी और विरोधी । चक्की, चूला, ओखली, बुहारी तथा परीडा जो गृहस्थी के पाच सून हैं उनमे तथा घर वगैरह बनवाने मे अनिवार्य हिंसा होती है वह आरभी हिंसा है । जीविका चलाने के लिए न्यायानुकूल अहिंसक व्यापार मे जो हिंसा होती है वह उद्योगी है । दूसरो के द्वारा आक्रमण किए जाने पर अपनी और अपनो की रक्षा के लिए जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है वह विरोधी हिंसा है । इन चारो प्रकार की हिंसाओ मे से गृहस्थी केवल सकल्पी हिंसा का त्याग करता है । बाकी तीन तो जब तक वह गृहस्थावस्था मे है उसके जीवन के लिए उपयोगी होने से वह उन्हे छोड़ नही सकता ।

हिंसा के ये चार भेद गृहस्थ जीवन के लिये ही है । मुनि जीवन मे वैसे भेद सभव नही है जिसके अपनी आत्मा के

विद्यते स किमर्थमारंभमुद्योगं विरोध वा कुर्यादिति स सर्वहिंसा-विनिवृत्तः सर्वसहश्च । काञ्चनाश्मशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिसम-वृत्तिः साधु पूर्णतोऽहिंसको भूत्वा चलति, भाषते, आहरति, पुस्तकादि आदत्ते निक्षिपति च, उत्सृजति मलमूत्रादीन्, शेते, निषीदति सहते वा परकृतक्लेशादि ।

गृहस्थस्तु परित्यक्तहिंसासंकल्प आरभोद्योगादिषु हिंसाम-परित्यन्नपि न कदाप्येतेषु व्यर्थां हिंसा करोति । वस्तुतो हिंसाया अघहेतुत्वात् । स ह्यल्पारभपरिग्रहे सन्तुष्टो निवार्य्या हिंसाम-वश्यमेव निवारयति । वह्वारभपरिगृहवांस्तु नादर्शगृहमेधी । तादृशो हिंसाया वैपुल्यात् । एतादृशहिंसा–अभावरूपाऽहिंसाऽऽ-चरणार्हा

अलावा अपना कुछ भी नहीं वह किस लिए आरंभ उद्योग तथा विरोध करे–वह तो सम्पूर्ण प्रकार की हिंसा को छोड देता है और सब उपसर्गो को समता भावों से सहन करता है । स्वर्ण-पत्थर, शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा वगैरह में समता भाव धारण करने वाला वह साधु पूर्ण अहिंसक होकर चलता है, बोलता है, भोजन करता है, पुस्तक वगैरह उठाता और रखता है तथा मल मूत्र वगैरह का विसर्जन करता है, सोता है, बैठता है अथवा दूसरो के द्वारा दिए गए दु खों को सहन करता है ।

गृहस्थ तो सकल्पी हिंसा का त्याग करके आरभ उद्योग वगैरह मे हिंसा का त्याग नहीं करता । लेकिन व्यापार वगैरह मे भी वह व्यर्थ हिंसा से सदा बचता है क्योंकि हिंसा तो वास्तव में पाप ही का कारण है वह थोडे आरंभ और थोडे परिग्रह में ही सन्तुष्ट रहता हुआ जिस हिंसा से टल सकता है अवश्य ही टलता है । बहुत आरभी और बहुत परिग्रह रखने वाला तो आदर्श गृहस्थी ही नही है क्योंकि वसी स्थिति में तो हिंसा की प्रचुरता है । ऐसी हिंसा के अभाव रूप अहिंसा का ही पालन करना चाहिए ।

न च हिंसासवलितं किञ्चिदनुष्ठानमाचारो वा धर्माय। जैनाचारस्येयमेव विशेषता यत्तत्राल्पापि हिंसामात्रा न विसह्या तस्या अधर्मरूपत्वात्। धर्मस्याहिंसालक्षणत्वात्, तथा चोक्तमहिंसा प्रशंसायाम्—

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
अहिंसालक्षणो धर्म अधर्मस्तद् विपर्यय ॥१॥
अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानंदपद्धति।
अहिंसैव गति साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥२॥
अहिंसैव शिवं सूते दत्त च त्रिदिवश्रियम्।
अहिंसैव हित कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३॥
परमाणो पर नाल्प न महद् गगनात्परम्।
यथाकिञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात् परम् ॥४॥

हिंसा गर्भित कोई भी अनुष्ठान अथवा आचार धर्म के लिये नही होता। जैनाचार की यही विशेषता है कि उसमे हिंसा का लेश मात्र भी सह्य नहीं है क्योकि वह अधर्म रूप है और धर्म का लक्षण अहिंसा रूप है। अहिंसा की प्रशंसा मे अन्य शास्त्रो में भी कहा है—

सम्पूर्ण शास्त्रों मे और सब कालो मे यह सुना जाता है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है और अधर्म का लक्षण हिंसा है ॥१॥

अहिंसा ही संसार की माता है, अहिंसा ही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है, अहिंसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है ॥२॥

अहिंसा ही कल्याण दायक है वही स्वर्ग का वैभव प्रदान करती है। अहिंसा ही सुख प्रदान करती है और दुःखो का खात्मा करती है ॥३॥

जैसे परमाणु से कोई छोटा नही होता और आकाश से कोई बडा नही होता। उसी प्रकार अहिंसा लक्षण रूप धर्म से बढकर कोई धर्म नही होता ॥४॥

तप:श्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम् ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥५॥
अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिना नायं तप: श्रुतयमोत्कर: ॥६॥
जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधि: परा ।
तथाऽमरपुरी गन्तुं पाथेय पथि पुष्कलम् ॥७॥
किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥८॥
कि न तप्त तपस्तेन कि न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिना ॥९॥

तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान, दान आदि कर्मों की तथा सत्य, शील, व्रत, वगैरह की जननी अहिंसा को ही माना गया है ॥५॥

अकेली अहिंसा ही प्राणियों को जो सुख, कल्याण, अथवा मोक्ष प्रदान करती है वह तप, श्रुत, यम का समुदाय भी नहीं ॥६॥

जन्म मरण की भयंकर बीमारी से ग्रस्त लोगों के लिए अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट दवा है और स्वर्ग पुरी के मार्ग में जाने को पौष्टिक कलेवा है ॥७॥

अहिंसा ही माता के समान प्राणियों का कल्याण करने वाली है एवं रमण करने के लिए सुन्दर स्त्री के समान तथा अज्ञानान्धकार दूर करने के लिये सरस्वती के समान है ॥८॥

जिस महात्मा ने देहधारियों से प्रेम करके उन्हे निर्भय बना दिया उसने कौनसा तप नही तपा और कौनसा दान नही दिया ॥९॥

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्री' परां प्रीति प्रकाशते ॥१०॥

यत्किंचित् संसारे शरीरिणां दु'खशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादिसमस्त तद्धिसासंभवं ज्ञेयम् ॥११॥

शान्त्यर्थ देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभि ।
कृत. प्राणभृता घात. पातंयत्यविलम्बितम् ॥१२॥

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णव ।
हिंसैव नरको घोरो हिंसैव गहन तम ॥१३॥

सौख्यार्थे दु.खसतानं मगलार्थेऽप्यमगलम् ।
जीवितार्थे ध्रुव मृत्यु कृता हिंसा प्रयच्छति ॥१४॥

जैसे जैसे मनुष्यो के हृदय मे करुणा की स्थिरता होती है, वैसे वैसे विवेक रूपी लक्ष्मी परम प्रसन्नता को प्राप्त होती है ॥१०॥

ससार मे प्राणियो के दु ख, शोक, भय तथा दुर्भाग्य वगैरह सब का एक मात्र कारण हिंसा को जानना चाहिये ॥११॥

मनुष्यो के द्वारा किया गया जीवो का घात चाहे वह शांति के लिए हो या देवपूजा के लिये हो अथवा यज्ञ के लिये हो— मनुष्य का तत्काल पतन कर देता है ॥१२॥

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पापो का समुद्र है। हिंसा ही भयानक नरक है और हिंसा ही सघन अन्धकार है।१३।

सुख के लिये की गई हिंसा निश्चय से दुःख परम्परा को प्रदान करती है। कल्याण के लिये की गई हिंसा अमंगल प्रदान करती है और जीवन के लिये की गई हिंसा नियम से मृत्यु को प्राप्त कराती है ॥१४॥

अन्यच्च—

एसा सा भगवई अहिंसा जासा भीयाणं पिव सरणं। पक्खीणं पिव गगणं, तिसीयाणं पिव सलिलं, खुदियाणं पिव असणं समुद्दमज्झेव पोयवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुदट्ठियाणं च ओसदिबल अडविमज्झेवसत्थगमणं तथा विसिट्ठतरिगा अहिंसा।

अन्यच्च—

अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परमम्।

वस्तुतोऽहिंसा भगवती। अनयैव मनुष्यस्य सर्वा आपदो विनश्यन्तीतीयम् समुपास्या नित्यमात्महितेप्सुभिरिति।

और भी कहा है:—

जैसे डरे हुये जीवों के लिये उत्तम शरण स्थान, पक्षियों के लिये प्रिय आकाश, प्यासों के लिये प्रिय सलिल, क्षुधार्त्तों को मिष्ट भोजन, समुद्र में डूबतों को प्रिय जहाज, पशुओं को प्रिय व्रज, रोगग्रस्तो को प्रिय औषध तथा भयंकर वन में सार्थवाह अर्थात् साथियों का समूह होता है। वैसे ही संसार में जीवों के लिये भगवती अहिंसा होती है। अहिंसा की ऐसी ही विशेषता है।

और भी कहा है—

संसार में अहिंसा प्राणी मात्र के लिये प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है।

वास्तव में अहिंसा भगवती है। इस के द्वारा मनुष्य की सब विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, अतः आत्म-हित चाहने वाले लोगो को इसकी निरन्तर उपासना करनी चाहिए।

जातितत्त्वमीमांसा

मुक्तेरव्यवहितकारणस्य रत्नत्रयस्यादिम सम्यग्दर्शनं जात्याद्यहङ्काराभावे न भवतीति जातिविषये किञ्चित् प्रस्तूयते ।

जातिर्हि सदृशपरिणामात्मिका । अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतार्थात्मकत्वात्तस्या । एतल्लक्षणापेक्षया कर्मसिद्धान्तानुसारेण तु पञ्चैव जातय एकेन्द्रियाद्याख्या । मनुष्यत्वपशुत्वप्रभृतयो वा भवन्तु जातयः । किन्तु ब्राह्मणक्षत्रियादिजातिभेदकल्पनं ह्याचारमात्रभेदेन सजातं । वस्तुदृष्ट्या तु न काचिद् ब्राह्मणीयाऽन्या वा नियता तात्त्विकी जातिरस्ति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणा चतुर्णामपि तत्त्वत एकैव मानुषी जातिराचारेण तु तत्र भेदकल्पना सभूता । तथा चोक्तमार्ष—

जाति तत्त्व मीमांसा

मुक्ति का साक्षात् कारण रत्नत्रय मे से पहला जो सम्यग्दर्शन रत्न है, वह जाति वगैरह के अभिमान का जबतक खात्मा न हो, उत्पन्न नही होता इसलिये जाति के विषय मे कुछ प्ररूपण किया जा रहा है ।

निश्चय से समान परिणमन स्वरूपता को जाति कहते है क्योंकि वह अविरोधी समान धर्मो के द्वारा आत्मा को एक रूप करती है । इस लक्षण की अपेक्षा से कर्म सिद्धान्त के अनुसार तो एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पचेन्द्रिय जाति आदि पाच ही जातिया हैं । अथवा मनुष्यत्व पशुत्व वगैरह जातिया हो सकती हैं । लेकिन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र जाति कल्पना तो निश्चय पूर्वक आचार भिन्नता से ही उत्पन्न हुई है । वास्तव मे तो ब्राह्मण या और कोई सचमुच नियत जाति नही है । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारो की ही वास्तव मे एक ही मनुष्य जाति है । मात्र आचार-भिन्नता से वहा यह भेद कल्पना हो गई है । ऐसा ही

मनुष्यजातिरेकैव-जातिनामोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदात्-चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।।
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्, क्षत्रिया शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।।

जातिरेषा गुणैः सम्पद्यते, गुणध्वंसैश्च विपद्यते । जातिर्हि गुणेन कर्मणा वा भवति न तु जन्मना । तथा चोक्तं पद्मचरिते-

ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात् ।
चातुर्वर्ण्यं तथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।

कहा है "मनुष्य जाति नाम कर्म के उदय से पैदा हुई मनुष्य जाति एक ही है । आचरण भिन्नता रूप कारण के द्वारा ही वह संसार मे चार प्रकार की हो गई है । व्रतों के संस्कार वाले ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने वाले क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धनोपार्जन करने वाले वैश्य और नीच वृत्ति (सेवा वृत्ति) आश्रय लेने वाले शूद्र कहलाये ।

गुणो के द्वारा यह जाति उच्च बनती है और गुणों के नाश से नीच हो जाती है । निश्चय पूर्वक जाति गुण से अथवा कर्म से होती है जन्म से नहीं । ऐसा ही पद्मचरित मे कहा है—

ब्राह्मण व्रत संस्कार वगैरह गुणों के सम्बन्ध से है न कि ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से । चार प्रकार की वर्णव्यवस्था तथा और भी जो चांडाल वगैरह विशेषण हैं वे सब के सब संसार में आचार की भिन्नता से ही प्रसिद्ध हुये हैं । क्योंकि जो चांडाल व्रतों का पालन करता है उसे देव, ब्राह्मण नाम से पुकारते हैं ।

उत्तराध्ययने चोक्त—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा॥

वरागचरिते च—

क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्-
दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति
न चान्यथावर्णचतुष्टयं स्यात्।

न च जातिमात्रत कदाचिद् धर्मो लभ्यते। नीचत्वोच्चत्व-प्रयोजकत्व तु गुणाभावगुणयोरेव। तथा चोक्तममितगतिना-ऽऽचार्येण—

उत्तराध्ययन मे भी कहा है—प्राणी कार्य से ब्राह्मण होता है, कार्य से ही क्षत्रिय होता है, कार्य से ही वैश्य तथा कार्य से ही शूद्र होता है।

वराग चरित मे भी कहा है— उत्तम लोग क्रिया विशेष के आचरण मात्र से ही चार वर्ण की व्यवस्था करते हैं अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का मुख्य धर्म दया, क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कर्म अभिरक्षा, वैश्य वर्ण का मुख्य कर्म कृषि और शूद्र वर्ण का मुख्य कर्म शिल्प है। और किसी प्रकार वर्ण चतुष्टय की व्यवस्था नहीं है।

जाति मात्र से कभी धर्म की उपलब्धि नहीं होती। जिसमे गुणो का अभाव है वह उच्च होने पर भी नीच है और जिसमे गुणो का निवास है वह नीच होकर भी उच्च है। अमितगति आचार्य ने भी इसी प्रकार निरूपण किया है—

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतप शील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥१॥
आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥२॥
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां-चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जाति-राचारेण विभज्यते ॥३॥
संयमो नियम. शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥४॥
गुणैः सम्पद्यते जाति-गुंणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥५॥

प्राणियों के जीवन में अगर सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान, स्वाध्याय आदि गुण न हो तो वे मात्र जाति के उच्च होने से धर्म को प्राप्त नहीं कर सकते ॥१॥

शुभ और अशुभ आचरण के भेद से ही जाति भेद की कल्पना हुई है। ब्राह्मणादि जाति कोई वास्तविक, निश्चित अमिट या अनादि नहीं है ॥२॥

वास्तव-में ब्राह्मण क्षत्रिय वगैरह चारों ही की एक ही मनुष्य जाति है और वह ही आचार-व्यवहार के द्वारा चार भागों में विभाजित हो जाती है ॥३॥

जिस जाति मे संयम, नियम, शील, तप, दान, यम, दया आदि गुण यथार्थ रूप में पाये जांय वही जाति बड़ी है ॥४॥

गुणों के होने से ही उच्च जाति होती है, गुणों के नष्ट होने से ही जाति का नाश हो जाता है। इसलिये बुद्धिमानों को चाहिए कि गुणों को प्राप्त करने में ही परम पुरुषार्थ करें ॥५॥

जातिमात्रमद कार्यो न नीचत्वप्रयोजक ।
उच्चत्वदायक सद्भि कार्यं शीलसमादर ॥६॥

ब्राह्मणत्वादयो भेदा ह्यौपाधिका, न चेमे नित्या । तेषां स्वय विलोपस्वीकारात् । क्रियाविलोपाच्छूद्रान्नादेश्च ब्राह्मणस्य जातिलोपः स्वयमेवाभ्युपगत जातिवादिभि ।

शूद्रान्नाच्छूद्रसंपर्काच्छूद्रेण सह भाषणात् ।
इह जन्मनि शूद्रत्वं, मृतः श्वा चाभिजायते ॥इत्यभिधानात्

न च ब्राह्मणत्वादयो जातय प्रत्यक्षादिप्रमाणत प्रतीयन्ते । न खण्डमुण्डादिषु सादृश्यलक्षणगोत्ववद् देवदत्तादौ ब्राह्मणत्व-

---

मात्र नीचत्व का सूचक जाति का अभिमान कभी नही करना चाहिए और सज्जनो को सदा सदाचार का ही समादर करना चाहिए जो कि उच्चता प्रदान करने वाला है ॥६॥

ब्राह्मणत्व वगैरह जो भी भेद हैं वे कृत्रिम हैं, ये नित्य अर्थात् अमिट नही है क्योकि उन्होने स्वयं ही उस जाति का लुप्त हो जाना माना है । उच्चकर्म के अभाव होने तथा शूद्रो के अन्न वगैरह के उपयोग से ब्राह्मण जाति का लुप्त हो जाना जातिवादियो ने स्वयं ही स्वीकार किया है ।

कहा भी है—

शूद्र का अन्न खाने से, शूद्र के साथ सम्पर्क करने से और शूद्र के साथ वार्तालाप करने से इस जन्म मे शूद्र हो जाता है और मरकर कुत्ता बन जाता है ।

और ब्राह्मत्व वगैरह जातिया प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्रतीत नहीं होती । खण्डी मुण्डी गायो मे समान लक्षण गोत्व की तरह देवदत्त वगैरह मे ब्राह्मणत्व जाति अन्य है ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण

जातिरन्या वा प्रत्यक्षत प्रतीता समुपलभ्यते। अन्यथा किमयं ब्राह्मणोऽन्यो वेति सशयो न भवेत्, तथा च तन्निरासाय गोत्राद्युपदेशो व्यर्थः। न हि गौरय मनुष्यो वेति निश्चियो गोत्राद्युपदेशमपेक्षते।

यावज्जातिकुल द्यभिमानस्तिष्ठति मनुष्ये न तावद् धर्मावकाशः। धर्माचरणे सर्वेषां स्वतंत्रत्वात्। न च जातिधर्मयोः कश्चनाविनाभावो विद्यते। धर्मोह्यात्मस्वरूपं शरीरे कल्पिताया जात्यास्तत्र क उपयोग., जातिवादावलेपेन मनुष्यस्य पतनं भवति। मुक्तिर्हि न कामपि जातिमपेक्षते। अत एव तदाप्तौ वद्धपरिकरो योगी जात्यातीतो वर्णातीतश्च भवति। जात्याद्यष्टविधमदवेशपरित्यजनमन्तरेण न च कोऽपि विमुक्तो भवति जात्याग्रहो हेय·।

॥ इति तृतीयोऽध्याय:॥

से अनुभव में नही आता। अन्यथा क्या यह ब्राह्मण है अथवा अन्य है ऐसा संशय नहीं होना चाहिए और वैसा होने पर उस सशय को मिटाने के लिए गोत्र वगैरह का उपदेश देना व्यर्थ होगा। यह गाय है या मनुष्य इसका निश्चय करने के लिए गोत्र वगैरह के उपदेश की जरूरत नहीं होती।

मनुष्य में जबतक जाति और कुल का अभिमान रहता है तबतक उसमे धर्म का प्रवेश नही होता। धर्म का आचरण करने का सबको समान अधिकार है। जाति और धर्म में कोई अविनाभाव नही है। धर्म तो आत्मा का स्वरूप है अत: शरीर में कल्पित की जाने वाली जाति में उसका क्या उपयोग संभव है। जातिवाद के चक्कर से मनुष्य का पतन होता है। वस्तुत: मुक्ति किसी भी जाति की अपेक्षा नही रखती। इसीलिए परमात्मा से लो लगाने वाला योगी जाति और वर्ण से रहित होता है। जाति, कुल, ज्ञान, पूजा, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठों के अभिमान का त्याग किए बिना कोई भी कर्मों से रहित नहीं होता इसलिए जातिवाद के हठ को छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।

तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः

निक्षेपस्वरूपविवेचनम्

अर्थाना शब्देषु शब्दानां चार्थेष्वारोपो निक्षेपः प्रोच्यते। आरोपो निक्षेपो न्यासो विन्यास इत्यादयो हि शब्दा पर्यायवाचिन । प्रायो हि औपचारिकसम्बन्धरूपो निक्षेप.। निक्षेपो हि शब्देषु शब्दाना वा क्रियते। अतस्तावच्छब्दान् विवृण्वन्ति:–

नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदाच्चतुर्विधा. शब्दा प्रोक्ता.। घट इत्यादय शब्दा' नामशब्दाः। गच्छतीत्यादय. आख्यात-

---

चौथा अध्याय

निक्षेप के स्वरूप का वर्णन

अर्थों का शब्दों मे और शब्दो का अर्थों मे जो आरोप किया जाता है वह निक्षेप कहा जाता है। आरोप, निक्षेप, न्यास, विन्यास वगैरह पर्यायवाची शब्द है और उनका अर्थ रखना या आरोपण करना होता है। प्राय निक्षेप औपचारिक सम्बन्ध रूप होता है। अथवा शब्दो मे शब्दो का भी निक्षेप किया जाता है, इसलिए शब्द के प्रकारो का वर्णन किया जाता है।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के भेद से शब्द चार प्रकार के कहे गये हैं। घट पट वगैरह शब्द नामशब्द हैं। जाना आना आदि क्रिया शब्द आख्यात-शब्द हैं। प्र, परा वगैरह

शब्दाः (क्रियाशब्दाः) प्रादयश्चोपसर्गशब्दाः एवमादयश्च निपाताः।x

एतेषु चतुर्विधेषु शब्देषु निक्षेपक्रियया केवलं नामशब्दाना प्रस्तारो भवति। अन्येषां शब्दाना पदार्थाऽवाचकत्वान्न तत्र निक्षेपस्य विधानं संभवेत्। तथा चोक्तं—निक्षेपविधिना नाम-शब्दार्थं प्रस्तूयते। नामशब्दाना न्यूनान्न्यून चत्वारोऽर्थाः अवश्यमेव भवन्तीति निक्षेपविधिना ज्ञायते। कोशात्तेषामितरे-ऽर्था भवन्तु मा वा भवन्तु, किन्तु चत्वारोऽर्थास्तु भवन्त्येव। अप्रस्तुतार्थमपाकर्तुं प्रस्तुतार्थं च व्याकर्तुं निक्षेपः फलवान्। यथा—राजा तु मम हृदये वर्तत इत्यत्र राजज्ञानं हृदये वर्तते न

उपसर्ग शब्द है। एवं वगैरह निपात-शब्द हैं।

इन चार प्रकार के शब्दों में निक्षेप क्रिया रूप से सिर्फ नाम-शब्दों का ही प्रयोग होता है। अन्य शब्द के जितने भी प्रकार हैं वे पदार्थ के वाचक न होने से उनमें निक्षेप का विधान नहीं होता। ऐसा ही कहा है- निक्षेप विधि से नाम शब्दों का ही प्रयोग होता है। नाम शब्दो के कम से कम चार अर्थ जरूर होते है- ऐसा निक्षेप विधि के द्वारा ही जाना जाता है। उनके और दूसरे अर्थ कोश से हों या न हों लेकिन चार अर्थ तो होते ही हैं। निक्षेप के मानने का यही फल है कि वह अप्रयोजनभूत अर्थ को हटाकर प्रयोजनभूत पदार्थ का व्याख्यान करता है। जैसे कि—राजा तो मेरे हृदय में मौजूद है—यहां राजा का ज्ञान हृदय मे है न कि खुद राजा, क्योंकि राजा तो हृदय में रह नही

x केचिज्जातिशब्दक्रियाशब्दगुणशब्दयदृच्छाशब्दभेदेन शब्दानां चातुर्विध्य प्रतिपादयन्ति। अपरे चैतेषु द्रव्यशब्दसमावेशेन पञ्चविधत्व-मपि शब्दानां व्याहरन्ति। वैशेषिकास्तु एतेषु सम्बन्धिशब्दानभावशब्दां-श्च समावेश्य सप्तविधत्वं समर्थयन्ति शब्दाना। केचिद् विद्वांसः प्रकृति-प्रत्ययनिपातोपसर्गभेदेनाऽपि चतुष्टयत्वं वदन्ति।

तु स्वय राजा । राज्ञो हृदये वर्तनाऽसभवादिति राजज्ञानरूपो-ऽर्थोऽत्र प्रस्तुत. । स्वय राजपदार्थस्तु अप्रस्तुत । ततः प्रस्तुतार्थ-स्वीकरणाऽप्रस्तुतार्थनिराकरणार्थं निक्षेपस्यावश्यकता ।

एष निक्षेपश्चतुर्विधः, नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पादिति । तत्र लोकसव्यवहारार्थं वस्तुन. नामकरण नामनिक्षेप । अस्मिन् हि न जातिद्रव्यगुणक्रियाणा प्रयोजकत्व । केवलमत्र वक्तुरभि-प्राय कारण । महावीरादयोऽभिख्या लोकसव्यवहारार्थं निक्षिप्ता न खलु वीरत्वगुणप्रधाना ।

ननु यदि वीरतादिगुणापेक्षया कस्यचिन्महावीर इति नाम क्रियेत तर्हि स नामनिक्षेप स्याद् वा नवेति चेत्—स भावनिक्षेप

सकता । इस तरह यहां राजा का ज्ञान रूप ही अर्थ ग्राह्य है । खुद राजा पदार्थ तो अग्राह्य है । इसलिए प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करने और अप्रस्तुत अर्थ को दूर करने के लिये निक्षेप की आव-श्यकता है ।

यह निक्षेप चार प्रकार का है– नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से । इनमें लोक व्यवहार चलाने के लिए वस्तु का कुछ भी नाम रख देने को नाम-निक्षेप कहते है । इस निक्षेप में जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया का कुछ भी प्रयोजन नही है—सिर्फ वक्ता का अभिप्राय ही कारण है । महावीर वगैरह जो भी नाम हैं वे लोक-व्यवहार चलाने के लिए है–निश्चय से वहां वीरतादि गुणो की प्रधानता नही है ।

शका—यदि वीरता वगैरह गुणो की अपेक्षा से किसी का महावीर नाम रखा जाय तो वह नाम-निक्षेप होगा या नही ?

समाधान—गुण की अपेक्षा अगर महावीर नाम है तो वह भाव-निक्षेप होगा न कि नाम-निक्षेप । किसी का नाम महावीर

स्यान्न तु नामनिक्षेपः। महावीरो महा-वीरोऽस्तीत्यत्र प्रथमं नाम नामनिक्षेपापेक्षया, द्वितीय तु भावनिक्षेपापेक्षया।

कस्यचिद् वस्तुनोऽन्यवस्तुनि प्रतिष्ठां कृत्वा सोऽयमित्येष न्यास स्थापनान्यास प्राच्यते। तदतद्भावनामतः स्थापना द्विविधा। प्रथमा मूर्तिचित्रादौ परा चाक्षादौ। मूर्तिमति मूर्ति-रहिते वा वस्तुनि सोऽय राजेति स्थापनाराजा प्रोच्यते।

ननु नामनिक्षेपेऽपि नामन्यासस्तथैव स्थापनानिक्षेपेऽपि स एवेति कोऽनयोर्भेद इति चेदुच्यते –

है–वह नाम निक्षेप की अपेक्षा है और वीर होने से महावीर है तो भाव-निक्षेप की अपेक्षा है।

अन्य वस्तु मे किसी वस्तु की कल्पना करके "वह यह है" ऐसी कल्पना को स्थापना-निक्षेप कहते है। वह स्थापना तदाकार और अतदाकार रूप से दो प्रकार की है। मूर्ति, चित्र वगैरह मे महावीर वगैरह की कल्पना तदाकार स्थापना है तो सतरंज के मोहरो में हाथी घोडे वगैरह की कल्पना अतदाकार-स्थापना है। मूर्तिमान् अथवा मूर्ति रहित वस्तु मे वह यह राजा है, यह स्थापना राजा कहलाता है।

शका—नाम-निक्षेप में भी नाम रखा जाता है उसी तरह स्थापना-निपेक्ष मे भी, फिर इन दोनों में क्या अन्तर है ?

समाधान—नाम-निक्षेप में आदर अनुग्रह बुद्धि नहीं होती, पर स्थापना-निक्षेप में होती है। निश्चय पूर्वक महावीर नाम वाले पुरुष का महावीर भगवान की तरह आदर सत्कार नही किया जाता लेकिन महावीर की प्रतिमा का तो महावीर की तरह स्तुति भक्ति पूजा उपासना वगैरह की ही जाती है।

नामनिक्षेपे हि नादरानुग्रहाकाक्षा, स्थापनानिक्षेपे तु सा भवेदेव । न खलु महावीरनामवतः पुरुपस्य महावीरवदादरादि क्रियते । महावीरप्रतिमायास्तु महावीरवत् स्तुतिभक्तिपूजोपासनादि क्रियत एव ।

न च केचिन्मूर्तावपि आदरानादरौ न कुर्वन्तीतिवाच्यम् । ये मूर्त्यादिषु स्थापना न कुर्वन्ति तेपा तत्रादरानादरादिसभावनैष न विद्यते । ये तु स्थापनारोपं कुर्वन्ति तत्र तेपामादरानादरादिर्भवत्येव ।

ननु केचिन्नामधेयेऽप्यादरबुद्धि कुर्वन्तीति कथमुच्यते स्थापनायामेवादरानारादिबुद्धिर्भवतीति चेन्न ।

कई मूर्ति मे भी आदर अनादर नही करते, ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि जो मूर्ति वगैरह मे स्थापना नही करते उनके लिए तो आदर अनादर का प्रश्न ही नही उठता । लेकिन जो स्थापना का आरोप करते है उनका उस वस्तु मे आदर-अनादर होता ही है ।

शका—कई लोग नामधारी का भी आदर अनादर करते देखे जाते है-तब यह कैसे कहा जा सकता है कि स्थापना मे ही आदर-अनादर भाव होता है ?

समाधान—ऐसा कहना युक्ति सगत नही, क्योंकि उस देव नामक पदार्थ में अगर लोग महान् भक्ति के कारण आदर भाव करते है तो वह स्थापना-निक्षेप ही है नाम-निक्षेप नही ।

शका—विद्वान् लोग नाम वाले पदार्थ की स्थापना किया करते है—वह नाम का व्यवहार तो चारों ही निक्षेपो से होता है । इसलिए कौन से नाम वाले पदार्थ की स्थापना की जाती है ?

तद्दे वनामके ह्यथ जना अतिभक्तिवशाच्चेत् तादृशी भक्ति
कुर्वन्ति तर्हि स स्थापनानिक्षेप एव न तु नामनिक्षेपः ।

अथ नामवतोऽर्थस्य विद्वद्भिः स्थापना क्रियते । नाम्नो
व्यवहारस्तु चतुर्भिन्यासैर्भवति । अतोऽत्र कीदृङ् नामवतोऽर्थस्य
स्थापना विधीयते इतिचेदुच्यते—

चतुर्विधेष्वपि नामसु स्थापनां कर्तुं शक्यते । महावीरादि-
पूज्याना या मूर्त्यादौ स्थापना क्रियते सा नामनिक्षेपनिक्षिप्त-
नामधेयवतामस्ति । या च महावीरादिप्रतिमाचित्रे महावीरादे
स्थापना क्रियते सा स्थापनानिक्षेपनिक्षिप्तनामवतामस्ति । द्रव्य-
निक्षेपतो युवराजोऽपि राजा प्रोच्यते । अतो युवराजस्य मूर्त्यादौ
राजाख्या स्थापना द्रव्यनिक्षेपनिक्षिप्तनाम्न स्थापना ज्ञातव्या ।
भावनिक्षिप्तराजस्य या स्थापना सा भावनिक्षेपनिक्षिप्तनाम-
वतः स्थापना प्रोच्यते । एषा स्थापना नित्याऽपि भवति अनि-
त्याऽपि च । नन्दीश्वरादिद्वीपस्थितनित्यचैत्यादीना स्थापना

समाधान—चारो ही प्रकार के नामों में स्थापना किया
जाना सभव है । जो मूर्ति वगैरह मे महावीरादि पूज्य पुरुषों
की स्थापना की जाती है वह नामधारियों की नाम निक्षेप के
द्वारा स्थापना है । और महावीर वगैरह के प्रतिमा या चित्र में
जो महावीर वगैरह की स्थापना की जाती है वह नाम धारियो
की स्थापना निक्षेप से रखी गई स्थापना है । द्रव्य निक्षेप से
युवराज को भी राजा कहा जाता है; इसलिए युवराज की मूर्ति
वगैरह में राजा नाम की स्थापना द्रव्य निक्षेप द्वारा कायम की
गई स्थापना जाननी चाहिये । जो स्थापना भाव निक्षेप द्वारा
राजा की की जाती है वह स्थापना भाव निक्षेप के द्वारा रखी
गई स्थापना कही जाती है । यह स्थापना नित्य भी होती है
और अनित्य भी । नंदीश्वर वगैरह द्वीपो में जो शाश्वत

नित्या । अनित्यचित्रादीना चानित्येति ।

अनागतपर्यायविशिष्ट द्रव्यं हि द्रव्यनिक्षेप इत्युच्यते । एष द्विविध. आगमद्रव्यनिक्षेपो नोआगमद्रव्यनिक्षेपश्चेति । तत्र तद्विषयकप्राभृतज्ञाताऽनुपयुक्त आत्मा प्रथम । यथा राजज्ञानविशिष्टोऽनुपयुक्तो मनुष्य आगमद्रव्यराजा । अत्र हि विषयिणि ज्ञाने विषयस्य ज्ञेयपदार्थस्योपचारो विधीयते । विषयविषयिभावसम्बन्धेन राजज्ञानमेव राजा प्रोच्यते । राजा तु मम हृदये वर्तत इत्यत्र राजज्ञानस्य हृदये वर्तनत्वसभवो न तु राज्ञ. । तस्य तत्र वर्तनासंभवादिति पूर्वमुक्त ।

दिक की स्थापना है वह नित्य है, और अनित्य चित्र वगैरह मे जो स्थापना है वह अनित्य है ।

जो पदार्थ आगामी काल मे जिस रूप से होगा उस पदार्थ को वर्तमान मे भी उसी रूप से व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप कहलाता है । भावी पर्याय के समान भूत पर्याय भी द्रव्य निक्षेप का विषय है । इस निक्षेप के आगम द्रव्य निक्षेप और नो आगम द्रव्य निक्षेप, इस तरह दो भेद हैं । इनमे उस विषय के शास्त्र का ज्ञाता पर उसके उपयोग से रहित जो आत्मा है वह आगम द्रव्य निक्षेप है । जैसेकि राजज्ञान से सयुक्त लेकिन उसके उपयोग से रहित मनुष्य आगम द्रव्य राजा है । निश्चय से यहा विषयी-ज्ञान मे विषय-ज्ञेय पदार्थ का उपचार किया गया है क्योकि विषय विषयी सम्बन्ध से राज ज्ञान को ही राजा कहते हैं । राजा तो मेरे हृदय मे मौजूद है—इसमे राजा का ज्ञान ही हृदय मे हो सकता है न कि राजा क्योकि राजा हृदय मे रह नही सकता—ऐसा पहले कहा है ।

नमु यदि ज्ञाने ज्ञेयोपचारस्तदा ज्ञाने निक्षेपत्वं भवितव्यम्, ज्ञातुर्निक्षेपत्व कथमिति चेन्न, यद्यपि ज्ञाने ज्ञेयोपचारेण, तज्ज्ञानं तद्वस्तु प्रोच्यते, तथापि तज्ज्ञानं ज्ञात्राश्रयमिति ज्ञाताऽऽगमनिक्षेपो व्यवह्रियते ।

द्वितीयो नो आगमद्रव्यनिक्षेपस्त्रिविधः, ज्ञातृशरीरं, भावि, तद्व्यतिरिक्तं चेति । तत्र प्रथमेन राजज्ञातुः शरीरं राजा कथ्यते । ज्ञातृकाययोरेकक्षेत्रावगाहसम्बन्धत्वात् ज्ञातुः त्रिकालगोचरशरीरमस्य विषयः ।

कार्यस्योपादानं भावि नोआगमद्रव्य, अनेन युवराज एव राजा प्रतिपाद्यते । तस्य भाविराजत्वात्, राज्ञ उपादानकारण-

---

शंका—यदि ज्ञान में ज्ञेय का उपचार किया जाता है तब तो ज्ञान में निक्षेपपना होना चाहिए फिर ज्ञाता को निक्षेपत्व कैसे होगा ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं । यद्यपि ज्ञान में ही ज्ञेय का उपचार करने से उस ज्ञान को ही निक्षेप कहा जाना चाहिए-फिर भी वह ज्ञान ज्ञानी के आश्रय है-ज्ञाता को छोड़कर अलग रहता नहीं; इसलिए ज्ञाता आत्मा को ही आगमनिक्षेप कहा जाता है ।

दूसरा नोआगम द्रव्य-निक्षेप तीन तरह का है—ज्ञातृशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्ति । इनमें ज्ञाता राजा के शरीर को राजा कहा जाना-ज्ञातृ-शरीर है । ज्ञाता और शरीर के एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से ज्ञाता का त्रैकालिक शरीर इसका विषय है ।

कार्य का जो उपादान कारण है वह भावि नोआगम द्रव्य है-इसके द्वारा युवराज ही राजा कहा जाता है, क्योंकि भविष्य में वही राजा होने वाला है और वही राजा का उपादान

त्वाच्च । अत्र ह्यु पादानोपादेयभावस्य प्रयोजकत्वमिति ।

पदार्थस्य निमित्तकारणादीनि हि तद्व्यतिरिक्तनोआगम-द्रव्यनिक्षेप । यथा राजदेहादयो राजेति । अनेन हि न केवल राजशरीरमपि तु राजमाता राजपिता तस्यान्यान्यपरिकरादीन्यपि राजा प्रोक्तु शक्यंते । अत्र हि इदमवधेय यच्छुद्धपदार्थानां तद्व्यतिरिक्तनिक्षेपो न भवति यथा मुक्तात्मनामिति । एवमेव नित्यपदार्थेषु नोआगमद्रव्यनिक्षेपस्य भाविनामा भेदो न घटते । तेषामुपादेयत्वाभावान्न च तत्रोपादनस्यावश्यकता ।

ननु स्थापनानिक्षेपाद् द्रव्यनिक्षेपस्य को भेद इति चेदय भेद' स्थापना हि भिन्नयोर्भवति । द्रव्यनिक्षेपश्चाभिन्नयोरिति । ननु

कारण है । यहा उपादान उपादेय भाव का ही प्रयोजन है ।

पदार्थ के जो निमित्त कारण होते है वह तद्-व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य-निक्षेप है, जैसे राजा के शरीर वगैरह को राजा कहना । इस निक्षेप के द्वारा न केवल राजा का शरीर ही अपितु राजा की माता, राजा का पिता और उसके अन्य कुटुम्बी भी राजा के नाम से कहे जा सकते हैं । निश्चय से यहा इतना और समझ लेना चाहिए कि जो भी शुद्ध पदार्थ हैं उनका तद्व्यतिरिक्त निक्षेप नही होता जैसे कि मुक्त आत्माओ का । इसी तरह नित्य पदार्थो में नोआगम द्रव्य निक्षेप का जो भावि नामा भेद है वह घटित नही होता । उनमे जब उपादेयत्व नहीं है तो वहा उपादान की आवश्यकता ही क्या है ।

स्थापना-निक्षेप से द्रव्य-निक्षेप का क्या भेद है—ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर है कि स्थापना भिन्न पदार्थों मे होती है तो द्रव्य-निक्षेप अभिन्न पदार्थों में । यदि इस आधार पर इस युक्ति

भंवंतामियं युक्तिर्न समीचीना यद्द्रव्यनिक्षेपोऽभिन्नयोरेव भवंतीति। यथा देव-देवप्रतिमयोर्भिन्नत्वं तथा राजराजशरीरयोरपि भिन्नत्वमिति चेन्न—

ज्ञानज्ञेयादिसम्बन्धैर्भिन्नयोरपिवस्तुनोरभिन्नत्वोपचारेणाभिन्नत्वख्यातयोर्द्रव्यनिक्षेपो भवति। न चेदृशीस्थापना, स्थापनायामभिन्नत्व निक्षेपतः क्रियते। द्रव्यनिक्षेपे त्वभिन्नत्वमुपचारतः पूर्वमेवास्ति। पूर्वत्राभिन्नता कार्यमुत्तरत्र तु सा कारणमित्यनयोर्भेदः।

वर्तमानपर्यायसंयुक्तं द्रव्यं भावनिक्षेप। स पूर्ववद् द्विविध; आगमभावनिक्षेपो नोआगमभावनिक्षेपश्चेति। तत्र तत्प्राभृत-

---

को असत्य ठहराया जाय कि भिन्न भिन्न पदार्थों का भी द्रव्य निक्षेप होता है-जैसे कि देव और देव की प्रतिमा में भिन्नत्व है वैसे ही राजा और राजा के शरीर में भी भिन्नता है, तो ऐसा कहना भी युक्ति-संगत नहीं है।

ज्ञान ज्ञेयादि सम्बन्धों से भिन्न भिन्न वस्तुओं में भी अभिन्नत्व का उपचार होने से जो अभिन्न प्रसिद्ध हैं उन्हीं में द्रव्य निक्षेप होता है। स्थापना ऐसी नहीं होती। स्थापना में तो अभिन्नता निक्षेप के द्वारा की जाती है। द्रव्य-निक्षेप में तो अभिन्नता उपचार से पहले मोजूद रहती है। द्रव्य-निक्षेप में अभिन्नता कार्य रूप है जब-कि स्थापना में वह कारण रूप है-यह इन दोनों में भेद है।

वर्तमान पर्याय के द्वारा उपलक्षित पदार्थ को भाव-निक्षेप कहते हैं। अर्थात् वर्तमान में जो पदार्थ जिस पर्याय सहित है उसको उसी पर्यायवाला कहना भाव-निक्षेप है। उसके भी आगम-भाव-निक्षेप और नो-आगम-भाव-निक्षेप इस प्रकार;

ज्ञायी सोपयोग आत्मा प्रथमो यथा राजज्ञानेन सयुक्त., सोपयोगो मनुष्यो भावागमराजा। द्वितीयस्तु तत्पर्यायात्मकं वस्तु यथा वर्तमाने राज्यं कुर्वन् राजा निगद्यते।

ननु नामनिक्षेपभावनिक्षेपयो. को भेद इति चेदुच्यते—नामनिक्षेपे व्यक्तिवाचकत्व भवति भावनिक्षेपे तु भाववाचकत्वं जातिवाचकत्व वा।

भावनिक्षेपे ज्ञायकशरीरप्रभृतयो भेदा द्रव्यनिक्षेपवन्न भवन्तीतिद्रव्यनिक्षेपादप्यस्य भेदोऽस्ति। अस्य केवल वर्तमानपर्यायेणैव सम्बधोऽस्ति।

अथ नयनिक्षेपयो क' सम्बन्ध'। उच्यते—नयोहि ज्ञानात्मको

दो भेद है। इनमे उस विषय का ज्ञाता और उसी का उपयोग करने वाला आत्मा आगम-भाव-निक्षेप है—जैसे राज-ज्ञान से सहित और उसका उपयोग करने वाला मनुष्य भाव-आगम राजा है। वर्तमान पर्याय रूप जो वस्तु है वह नो-आगम-भाव-निक्षेप है जैसे वर्तमान में राज्य करने वाले को राजा कहना।

नाम-निक्षेप और भाव-निक्षेप में क्या भेद है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर है कि नाम—निक्षेप में व्यक्ति का कथन होता है जब कि भाव-निक्षेप में भाव या जाति का कथन होता है।

द्रव्य निक्षेप की तरह ज्ञायक शरीर वगैरह भेद भाव निक्षेप में नही होते, इसलिए द्रव्य निक्षेप से भाव निक्षेप भिन्न सिद्ध हो जाता है। इस भाव निक्षेप का तो मात्र वर्तमान पर्याय से ही सम्बन्ध है।

नय और निक्षेप मे क्या सम्बन्ध है ऐसा प्रश्न होने पर कहा जाता है। निश्चय से नय ज्ञानात्मक होता है और निक्षेप

निक्षेपस्तु ज्ञेयात्मकः । अत एतयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धोऽस्ति । निक्षेपो हि वाच्यवाचकसम्बन्धस्थापनायाः क्रिया । स नयस्य विषयो नयस्तु तस्य विषयी । आद्यास्त्रयो निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयविषयाः । अन्तिमश्च पर्यायार्थिकनयगोचरः । बालाद्यवस्थाभिन्नेऽपि मनुष्ये नाम्नोऽविच्छेददर्शनादन्वयित्वं दृश्यते इति नामनिक्षेपो द्रव्यार्थिकविषयः । तथैव तीर्थंकरप्रतिमादौ कालभेदेऽपि स्थापनाया. दर्शनादन्वयित्वमिति स्थापनानिक्षेपस्याऽपि द्रव्यार्थिकविषयत्वं युक्तिसंगतम् । भावनिक्षेपे तु नैतादृशमन्वयित्वं दृश्यत इति तस्य पर्यायार्थिकप्रमेयत्वं संगतमेवेति ।

जैनदर्शनसारेऽस्मिन् प्रमाणनयलक्षण-
निक्षेपाः वर्णिताः सम्यक् समासात्तत्त्वसप्तकम् ।

ज्ञेयात्मक–इसलिए दोनों में विषय विषयी भाव सम्बन्ध है। वाच्य वाचक सम्बन्ध स्थापना की जो क्रिया है वह निक्षेप होता है–वह नय का विषय है और नय उसका विषयी। पहले के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और चौथा पर्यायार्थिक नय का विषय है। मनुष्य पर्याय में बचपन जवानी वगैरह अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी नाम का विच्छेद न होने से अन्वयीपना है इसलिए नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है। इसी प्रकार तीर्थंकर की प्रतिमा वगैरह में काल की भिन्नता होने पर भी स्थापना में अन्तर नहीं पड़ने से अन्वयीपना है अतः स्थापना निक्षेप का भी द्रव्यार्थिक नय का विषय होना तर्क संगत है ही। भाव निक्षेप में तो ऐसा अन्वयीपना संभव नहीं होता इसलिए उसका पर्यायार्थिक नय का विषय होना सिद्ध ही है।

इस जैनदर्शनसार ग्रन्थ में प्रमाण, नय, लक्षण, निक्षेप तथा सात तत्त्वों का संक्षेप में सम्यक् निरूपण किया गया है।

अस्यां कृतौ मेऽस्ति न किञ्चनापि,
यदस्ति किञ्चित्खलु तत् परेषां।
मया कृतः केवलसंग्रहोऽत्र
पुरातनग्रंथकृतां कृतीनाम्।

॥ इति. ॥

ग्रन्थ के रचयिता जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् जयपुर निवासी श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस ग्रन्थ के निर्माण में मेरा अपना कुछ भी नहीं है—जो कुछ भी है वह सब दूसरों का है। प्राचीन ग्रन्थ निर्माताओं की कृतियों का मैंने यहां मात्र सार संग्रह किया है। मैं उन सब ग्रन्थकारों का महान् कृतज्ञ हूं।

॥ इति ॥

JAIN DARSHANASAR

NOTES.

PAGE 1 LINE 4. सन्मति Bhagawan Mahavira. When the Tirthamkara was a child, two Charana Munis, Jayanta and Vijaya, who had philosophical doubts, paid a visit to the Lord. When they saw the Divine Child, all their doubts were cleared and they called Him, Sanmati

PAGE 2 LINE 10 चतुःप्राण Four kinds of life principles are Indriya (senses), Bala (strength), Ayu (duration of life) and Svasochhvasa (Respiration). These four pranas become ten when the details are taken into consideration. The senses are five viz touch, taste, sound, smell and sight. Strength is of three kinds viz., of mind, speech and body. The five senses, the three kinds of strength, age and respiration form the ten pranas.

PAGE 4 LINE 6 उपयोगमयत्व Upayoga is defined as the manifestation of consciousness through Knowledge and Perception, Jnana and Darshana. It is the characteristic of Atma and not of Prakriti which is by nature nonsentient.

PAGE 5 LINE 6 अमूर्तित्वं Formlessness. The Jiva is formless since it has no colour, taste, smell and touch. It is not the resultant or the combination of earth, water, fire and air as these are devoid of consiousness, where as a Jiva is found to be having consciousness A child on the very day of its birth, manifests its desire for drinking its

mother's milk. This desire is due to pratyabhijnana which is again due to Smarana Smarana is the rememberance of an object, whereas Pratyabhijnana is the recognition of an object by observing its special characteristics The existence of the spirits such as Bhutas and Pisachas goes to establish the existence of Atma and its immortality. According to the realistic point of view, Jiva is without form, because the five kinds of colour and taste, two kinds of smell and eight kinds of touch are not present in it. But according to the ordinary point of view it has form through the bondage of karmas.

PAGE 7 LINE 9. कत्तृत्वं According to the ordinary point of view Jiva is the doer of pudgala karmas But according to Shuddha nischaya naya (pure realistic point of view) the Jiva is the agent of pure feelings while according to ashuddha nischaya naya (impure realistic view) it is the cause of impure feelings like attachment, aversion etc

PAGE 8 LINE 7 स्वदेह—परिणामत्व Jiva is coextensive with the body it occupies.

PAGE 13 LINE 1 भोक्तृत्व According to the ordinary point of view the Jiva experiences the results of its own good or bad actions. According to the realistic point of view the Jiva has the experience of its conscious state.

PAGE 13 LINE 6. उर्द्धवगतिस्वभावत्व The Jiva has by its nature the tendency to go upwards. But because of its association with karmas which bind it, it has to roam about in Samsara or worldly existence. The karmic bondage is of four kinds, Prakriti, Pradesha, Sthiti and Anubh-

aga. Prakriti Bandha refers to the nature or kinds of karma binding a soul. Pradesha Bandha is the bondage of the mass of Karma Sthiti is the duration of the bondage Anubhaga refers to the intensity of the bondage whether mild, mediocre or intense. When the soul is rid of all bondage, it rises up to the summit of the world. Samsari Jivas are souls bound by karmas When they die and when they have to take new births they are said to have movements in directions, excluding vidisas They can move along the cardinal points and up and down These are called the अनुश्रेणिया the ladder paths. Jivas are classified under two heads, Samsari and Mukta, the unliberated and the liberated.

PAGE 14 LINE 6 चतुर्दश जीवसमास Fourteen classes of Jivas. Samsari Jivas are divided into two classes Sthavara and Trasa. Sthavara Jivas have only one sense viz. the sense of touch. For example earth, water, fire, air and vegetables have one sense only. They are again either gross or very subtle (invisible) Each of these is again divided into two classes. Paryapta (developed) and Aparyapta (undeveloped). Trasa Jivas are of five kinds, those having two, three, four, five senses such as worm ant, bee and man respectively, and those having five senses and mind Each of those is again divided into two classes, Paryapta (developed) and Aparyapta (undeveloped). Thus we have on the whole fourteen classes of Jivas or souls.

चतुर्दश मार्गणास्थान Fourteen Marganasthanas or conditions in which Jivas are found. They are (1) Gati (2) Indriya (3) Kaya (4) Yoga (5) Veda (6) Kashaya (7) Jnana (8) Samyama (9) Darshana (10) Leshya (11) Bhavya (12) Samyaktva (13) Sanjni (14) Ahara.

चतुर्दश—गुणस्थान Fourteen stages of spiritual development They are—

(1) मिथ्यात्व In the first stage, a person has no belief in the true doctrines

(2) सासादन This is a stage of transition. A person who loses true belief and comes to entertain false doctrines, passes through this stage

(3) मिश्र A person in this stage has true and false belief in a mixed way

(4) असयत सम्यग्दृष्टि A person who is in this stage has faith in the true doctrines and has to control the moderate or slight degrees of anger etc

(5) सयतासयत A person who is in this stage is able to control moderate degrees of passions and succeeds in having greater self-control than those in the fourth stage

(6) प्रमत्त—सयत A person has all possible control over self and begins to refrain from injury, falsehood, theft, lust and a desire for worldly possessions.

(7) अप्रमत्त—सयत In this stage the tendency to be attached to outer things is thoroughly overcome. There is perfect self control and spiritual strength is firmly established Manah-paryaya-jnana (telepathic knowledge of other's mind) appears only in a person who has reached this stage.

(8) अपूर्वकरण A person in this stage may be

either on the path of annihilatian ar on that of pacification of Karmas.

(9) अनिवृत्तिकरण Equipped with Shukla Dhyana, a person in this stage destroys the grosser forms of desires and impulses of the soul.

(10) सूक्ष्मसांपराय In this stage, the gross and subtle desires may either be rooted out or suppressed.

(11) उपशांत कषाय Due to the suppression of Karmas, a person in this stage gets spiritual peace.

(12) क्षीण कषाय In this stage all the passions are destroyed

(13) सयोग केवली A person in this stage attains omniscient knowledge But he has the activities of the mind, speech and body.

(14) अयोग केवली In this stage yoga (activity) disappears and after that the Siddha state is achieved.

PAGE 14 LINE 10 सिद्धत्व Siddha-hood or Godhood.

गुप्ति—Restraint of body, speech and mind. समिति Carefulness.

धर्म Observance of the ten kinds of excellent virtues.

अनुप्रेक्षा Twelve kinds of reflections.

परिपहजय Conquering the twenty-two kinds of troubles,

चारित्र Conduct.

PAGE 14 LINE 11 वाह्य तप Six kinds of external austerities अभ्यन्तर तप Six kinds of internal austerities. शुल्क ध्यान is pure meditation on the true nature of reality.

When the eight kinds of Karmas binding a Jiva are destroyed it becomes a ***Siddha*** possessing eight infinite qualities. It is slightly less than the final body from which it got liberation and is eternal in its essential character It goes up to the summit of Loka and there remains stationary The eight kinds of karmas are 1. ***Jnanavaraniya*** which obscures knowledge of a Jiva, 2 ***Darshanavaraniya*** which obscures the perception, 3 ***Mohaniya*** which infatuates Jivas and makes them unable to distinguish right from wrong, 4. ***Antaraya***-that produces obstacles in the way of a Jiva's action 5.***Vedaniya*** which causes pain or pleasure for a soul 6.***Ayu-Karma*** which determines the age of a Jiva in a particular body 7 ***Nama Karma*** is that which determines the shape, colour etc of the body in which a Jiva is to be born, 8 ***Gotra Karma*** is that which brings about the birth of a Jiva in a high or low social status

PAGE 20 LINE 3 कर्म नोकर्म Karmas and No karmas Karmas have already been explained. Nokarmas are defined as karmas which help the soul to experience the result of the karmas.

PAGE LINE चतुर्गति Four Conditions of existence as (1) Celestial beings, (2) human beings, (3) Sulehuman beings and (4) Hellish beings.

PAGE 20 LINE 7 धर्म्य शु ल ध्यान Dharma Dhyana or Righteous Concentration, and Shukla Dhyana or Pure Concentration, Righteous Concentration is of four kinds— (1) आज्ञाविचय Contemplation on the teachings of the

Arhat. (2) अपायविचय Contemplation on how the universal wrong belief, knowledge and conduct of the people can be removed (3) विपाकविचय Contemplation on the fruition of the eight kinds of karmas. (4) संस्थानविचय Contemplation on the nature and constitution of the Universe शुक्ल ध्यान is also of four varieties. (1) पृथक्त्ववितर्कवीचार Meditation of the Self, unconsciously allowing its different attributes to replace one another. (2) एकत्ववितर्कवीचार Meditation on one aspect of the Self without changing the particular aspect. (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति Deep meditation of the Self in the Sayoga Kevali Gunasthana when there is very subtle activity of the body. (4) व्युपरतक्रियानिवृत्ति: Total absorption of the Soul in itself, steady and undisturbably fixed without any motion or vibration whatsoever, in the Ayoga Kevali Gunasthana

PAGE 21 LINE 2 असयमी un-self-controlled, संयमासंयमी Partial self ..controlled. सयमी . Self controlled.

PAGE 22 LINE 3. पच परमेष्ठी Five supreme beings. They are Arhat, Siddha, Acharya, Upadhyaya and Sadhu. An Arhat is that pure soul which has an auspicious body, has destroyed the four Ghati Karmas and has the four infinite qualities of knowledge, perception, happiness and power A Siddha is one who is bereft of the bodies produced by eight kinds of Karma, is the seer and knower of Loka and Aloka, has a shape like that of a human being and stays at the summit of the universe. An Acharya is one who practises the five Acharas (kinds of conduct) and instructs his disciples to do the same. An Upadhyaya is one who is always engaged in teaching the tenets of Jainism to others

and who is possessed of right faith, right knowledge and right conduct. A Sadhu is one who is always engaged in practising perfect conduct based on perfect faith and perfect knowledge and doing penances.

LINE 5. सशरीर परमात्मा Supreme Self with body अशरीर परमात्मा Supreme Selt without body

LINE 7 घातिकर्म Karmas which destroy the natural characteristics of the soul. Tirthamkaras and other omniscient beings in the 13th and 14th stages of spiritual development (gunasthanas) are called Sasharira Paramatma. That Paramatman with body, in the 13th Gunasthana, who shows the path to the believing souls, to cross the ocean of births and deaths, is called Tirthamkara. He is also called by the names of Arhat, Jinendra and Apta.

PAGE 23 LINE 7 अशरीरपरमात्मा is Siddha.

PAGE 24 LINE 2 पुद्गल (metter), धर्म (principle of motion) अधर्म (principle of rest), आकाश (Space), and काल (Time) These five together with Jiva or Soul form the six Dravyas or substances That which has qualities and modes is called सत्, real substance It has the characteristic of persistence through change. Its intrinsic qualities are always permanent, but its modifications appear उत्पाद and disappear व्यय For example a lump of gold has the intrinsic qualities of yellow colour and malleability which never change But the lumpness of the gold may disappear (vyaya) and take the form of a chain (utpada), This chain may be destroyed (vyaya) and made into a cup (utpada). Dravya is that which has a permanent substantiality which manifests through

the changes of appearing and disappearing, Utpada (appearance) Vyaya (disappearance) and Dhrouvya (Permanency) form the three-fold nature of the real

LINE 8 पुद्गल has the characteristics of colour, taste, smell and touch.

PAGE 25 LINE 1 शब्द is not the quality of Akasa Sound is a kind of matter and is perceptible to the sense of hearing. Because of its material nature it is obstructed by walls and interrupted by opposite wind.

PAGE 25 LINE 9. पुण्य and पाप Karmas are also modifications of matter.

PAGE 26 LINE 9. तम (darkness), छाया (Shade) आतप (sunlight) and उद्योत (moon-light) are also forms of matter as these are perceptible to the senses.

PAGE 27 LINE 1 Pudgala is of two kinds, स्कन्ध and अणु molecules and atoms. An atom is defined as an indivisible particle of matter occupying one pradesha or point in space Molecules are formed by the combination of two or more atoms.

PAGE 28 LINE 8 धर्माधर्मसिद्धि Existence of Dharma and Adharma Dharma and Adharma are two substances forming the principles of motion and rest respectively. They are eternal, formless and existing throughout the world-space. In the same way as water helps the movement of fish, Dharma helps the movement of moving Jivas and Pudgala. It s not moving in itself and not imparting motion to anything, t assists the movement of Jivas and Pudgala. Without

Dharma dravya the movement of Jivas and Pudgala would be impossible As shade assists the staying of travellers, Adharma assists the staying of Jivas and Pudgala. It does not stop the motion of Jivas and Pudgala, but assists them in staying still while they are in a state of rest These two metaphysical principles of motion and rest have nothing to do with Punya and Papa which are purely ethical in character.

PAGE 32 LINE 2 आकाशद्रव्यम् The substance of Space. That which gives space to all Jivas, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala and is eternal and pervasive is called Akasa or Space.

PAGE 33 LINE 1 एवभूतनय This is the last and the seventh of the Nayas. Naya is defined as a means of insight into the nature of reality from a particular point of view According to the एवभूतनय the term must just designate the particular aspect or attitude in the object referred to.

LINE 10 Akasa is of two kinds, लोकाकाश and अलोकाकाश Lokakasa is that in which Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala exist. That which is beyond this Lokakasa is called Alokakasa.

PAGE 34 LINE 4. अस्तिकाय The four non-living substances Pudgala Dharma, Adharma and Akasa together with Jiva form the five अस्तिकाय. An Astikaya is defined as that which exists and has many Pradeshas like a body. Dharma, Adharama and Jiva have innumerable, pradeshas, Akasa has infinite pradeshas. Pudgala has numerable, innumerable and infinite pradeshas. A pradesha is that portion of Akasa (space) which is occupied by one indivisible atom of matter.

PAGE 35 LINE 1. कालद्रव्यम् The substance of Time. It has the characteristics of वर्तना or continuity. It is the determining cause of changes in substances. It does not cause the changes but only assists the changes to be produced. Time is of two kinds. परमार्थ काल (absolute time) and व्यवहार काल (relative time). Vyavahara Kala is that which helps to produce changes in substances and which is known from modifications produced in substances. The points of time (कालाणु), like heaps of jewels, exist one by one in each pradesha of Lokakasa. These Kalanus (instants of time) do not have the qualities associated with physical objects. The time series formed by instants is mono—dimentional in the language of the Mathematicians. That is why Time is denied Kayatva by the Jaina Philosophers. Time which is so constituted by Instants is called परमार्थ काल.

PAGE 37 LINE 10. मन (mind) is of two kinds, द्रव्यमन and भावमन. Dravya Mana is physical and material in character, while Bhava Mana is identical with knowledge which is the characteristic of Atma.

PAGE 40 LINE 6. आस्रवतत्त्वम् Asrava is defined as the flowing in of the karmic particles into the soul. It is of two kinds, भावास्रव and द्रव्यास्रव Bhavasrava refers to the virtuous or vicious feeling of the soul. Dravyasrava refers to the actual karmic particles flowing into the soul.

PAGE 42 LINE 5. बन्धतत्त्वम् That conscious state by which Karma is bound with the soul is called भाव

बन्ध. The interpenetration of the Pradeshas of Karma and of the soul is described as द्रव्य बन्ध ।

PAGE 45 LINE 3. संवरतत्वम् Stoppage of the influx of Karmas into the soul Samvara is the antogonistic principle of Asrava. That modification of consciousness which is the cause of checking Asrava is surely Bhavasamvara. The actual stopping of the inflow of Karmic particles is known as Dravya Samvara

LINE 10 निर्जरातत्वम्. The destruction of Karmas. That modification of the soul by which the karmic particles disappear after yielding their results and also the destruction of karmas by penance is called Bhava Nirjara. The actual destruction of the karmic matter is said to be Dravya Nirjara

PAGE 46 LINE 4 मोक्षतत्वम् That modification of the soul which is the cause of the destruction of all the karmas is Bhava Moksha The actual separation of the soul from all karmas is Dravya Moksha According to Vyavahara Naya the three jewels of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct are the causes of Moksha. But according to Nischaya Naya, the soul itself possessing the three jewels is the cause of Moksha. The three Jewels (Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct) do not exist in any other substance excepting the soul. Therefore the soul only is the cause of liberation. Right Faith is the belief in the Tattvas This is a quality of the soul and when this arises, Jnana (knowledge) being free from errors surely becomes perfect

PAGE 47, LINE 5. सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge) is the detailed cognition of the real nature of the soul and the non-soul, and is free from Samsaya (doubt). Viparyaya (perversity) and Anadhyavasaya (indefiniteness). Samsaya consists of doubt when the mind sways between one thing and another without being able to assert the true nature of anything e. g. doubting whether the object seen at a distance is a man or a post. Viparyaya is the cognition of an object as something which is quite the contrary of its real self, e. g. thinking nacre to be silver. Anadhyavasaya is knowledge of something without any clear idea as to what it is really, e. g. touching something without knowing what it is.

PAGE 47, LINE 5. सम्यक्चारित्र According to Vyavahara Naya Samyak Charitra consists of Vratas (Vows), Samitis (attitudes of carefulness) and Guptis (Restraints) and refrains from pursuing what is harmful. But according to Nischaya Naya the checking of external and internal actions is Samyak Charitra

LINE 8. बाह्यक्रिया external actions such as committing the five sins. Abhyantara Kriya—internal actions such as three kinds of Yoga of body, speech and mind and the four kinds of passions anger, pride, deceit and greed.

PAGE 52LINE 4. लक्षण, प्रमाण, नय and निक्षेप Knowledge of the soul and the non-soul is not possible except through these four.

LINE 8. लक्षण is that which helps us to distinguish between different things. It is of two kinds. आत्मभूत one's own inhe rent quality. e. g. heat is the quality of fire, consciousness

is the quality of Atma, colour, taste, smell, touch etc. are the characteristics of matter. अनात्मभूत is the quality which is attributed to a thing for the time being, but which is not its inherent characteristic, e. g. to call a man having a stick (danda) as the stick man.

PAGE 53 LINE 7. लक्षणाभास is defined as the fallacy of attributing to a thing a quality which is not its own. It is of three kinds, अव्याप्त, अतिव्याप्त and असंभवि. Avyapta is that which is not found in all the objects belonging to a species, e. g a specific colour of a cow is not found in all the cows. Ativyapta to attribute the name of a bigger class to a smaller one, e g. cows are animals. But really animals include not only cows but buffaloes and several other kinds of quadrupeds. Asambhavi is to speak of a thing as having an impossible attribute e. g. to describe a man as possessing a horn.

PAGE 58 LINE 8. सम्यग्ज्ञान–right knowledge. मिथ्याज्ञान false knowledge.

PAGE 61 LINE 11. प्रत्यक्षप्रमाण immediate and direct apprehension of reality परोक्षप्रमाण Mediate and indirect apprehension of reality.

PAGE 62 LINE 5 सांव्यवहारिक is knowledge which is derived through the five senses and mind for worldly purposes

LINE 9. अवग्रह is the initial knowledge about an object after it is brought into contact with a sense organ

PAGE 62 LINE 10 ईहा is the desire to know the particulars of the object

PAGE 63 LINE 1, आवाय is the definite finding of the particulars.

LINE 2, धारणा is the lasting impression which results after the object with its particulars, is definitely ascertained. This impression enables us to remember the object afterwards.

PAGE 64 LINE 3 As these four Avagraha etc. are due to sense perception, they are called इन्द्रियप्रत्यक्ष.

LINE 4. Mind (manas) is called अतीन्द्रिय and knowledge through Mind is अतीन्द्रियप्रत्यक्ष.

PAGE 65, LINE 6. पारमार्थिकप्रत्यक्ष is that which is apprehended by Atma immediately and directly. It is of two kinds सकल (perfect) and विकल (imperfect). केवलज्ञान (omniscient knowledge) comes under Sakala Pratyaksha. अवधि (the psychic knowledge which is directly acquired by the soul without the medium of the mind or the senses) and मनःपर्यय (knowledge of the ideas and thoughts of others) come under Vikala Pratyaksha.

PAGE 66 LINE 7 सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य The subject matter of Kevala Jnana is all the substances in all their modifications. Kevala Jnana or omniscience is knowledge unlimited as to space, time or object.

PAGE 69, LINE 5. Paroksha Pramana is of five kinds, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान and आगम.

PAGE 82, LINE 5. स्मृति is the remembrance of an object once seen. प्रत्यभिज्ञान is identifying that object with what we have seen, read or heard about. तर्क is knowledge of

the universal concomittance of any two things. अनुमान is inference आगम is knowledge derived from one who is trustworthy.

PAGE 77 LINE 6. स्वार्थानुमान inference for one's own self परार्थानुमान—inference for others

PAGE 83, LINE 8. एकात—one sided view अनेकान्त many sided view

PAGE 93, LINE 5. नय are of two kinds, द्रव्यार्थिक and पर्यायार्थिक—Dravyarthika = substantive aspect. Paryayarthika the aspect of change or modification. Of the seven Nayas, नैगम,सग्रह,व्यवहार,ऋजुसूत्र,शब्द,समभिरूढ and एवभूत the first three come under Dravyarthika Naya and the remaining four come under Paryayarthika Naya.

PAGE 98 LINE 4. According to another classification the first four Nayas are called अर्थनय in as much as they deal with objects of knowledge and the other three are called शब्द नय as they are concerned with the terms and their meanings.

LINE 7. Each of these Nayas has a greater extent or denotation than the one which follows it. each succeeding Naya denotes lesser than the preceding one. Each of the Nayas is dependent on the one preceding it.

PAGE 100, LINE 1. The Primary Nayas are two, निश्चयandव्यवहार. Nischaya is of two kinds,Shuddha Nischaya and Ashuddha Nischaya, Shuddha Nischaya Naya(Purerealistic point of view) holds the Jiva as having केवलज्ञान etc, in its pure and unconditioned (निरुपाधि) state Jiva as

having मतिज्ञान etc , in the सोपाधि-state is defined according to Ashuddha Nischaya Naya. Vyavahara is of two kinds, सद्भूत and असद्भूत. Satbhuta implies the intrinsic nature of a thing Asatbhuta implies the importation of alien qualities into the self Satbhuta Vyavahara is of two kinds, उपचरित and अनुपचरित According to Upacharita Satbhuta Vyavahara, Jiva has the qualities of Mati Jnana etc. According to the Anupacharita Satbhuta Vyavahara Naya, Jiva has the characteristics of Kevala Jnana etc. There are also two kinds of Asatbhuta, Upacharita and Anupacharita. Upacharita Asatbhuta Vyavahara refers to the possession of an alien thing as one's own, e. g. Devadatta's wealth. Anupacharita Asatbhuta Vyavahara refers to the identification of the self with some alien thing. e. g Jiva's body.

PAGE 101 LINE 6. स्याद्वाद—conditional predication. It does not hold one sided view. Substances are to be studied in all their manifold aspects.

PAGE 102 LINE 1. Sevenfold predication.

LINE 1. स्वभाव—one's own nature. परभाव–other's nature.

LINE 1. सत्—existence; असत्— non-existence; द्रव्य- substance. पर्याय-modification. सामान्य-general. विशेष-particular. नित्य-eternal. अनित्य-non-eternal.

LINE 6 Syadvada is the seed of Jaina Agama.

LINE 10. Without the help of Syadvada it is not possible to know the Truth.

LINE 11. षड् अन्धा—six blind men This refers to the parable of six blind men who wanted to know what an elephant was like, by touching its legs, side, trunk, ears, tail and tusk.

PAGE 102, LINE 12. In the same way as the blind men who could not see the true form of the elephant, were giving their own conjectures, so also a man devoid of the eye of स्याद्वाद cannot see the true reality and will be giving his own notions.

PAGE 106, LINE 2. अधिगम (knowledge derived from tution) is from Pramana and Naya.

LINE 5. प्रमाण सप्तभंगी is Syadvada. नय सप्तभंगी consists of the seven Nayas mentioned already.

LINE 8. Syadasti eva ghata (From some point of view the jar is.)

Syannasti eva ghata (From some point of view the jar is not)

Syadasti nasti cha ghata (From some point of view the jar is and is not)

Syadava eva ghata (From some point of view the jar is indescribable).

Syadasti cha avaktvya ghata (From some point of view the jar is, though indescribable.)

Syannasti cha avaktvya ghata (From some point of view the jar is not though indescribable.)

Syadastinasti cha avaktvya ghata (From some point of view the jar is and is not though indescribable)

PAGE 132, LINE 4. The basis of Jain... of a अहिंसा।

PAGE 133, LINE 1. Hurting the vitalities of any being by mind, speech or body due to passions is हिंसा।

PAGE 136, LINE 5. संकल्प—intentional. संकल्पी हिंसा intentional injury to lives) is objectionable according to Jainism. For instance, in carrying on agricultural operations, though there is himsa, it is not intentional injury to lives. The motive of the agriculturist is not to destroy any life but only to produce food.

PAGE 139, LINE 3. Some believe that it is not a sin to commit himsa for propitiating a god or goddess, for the sake of puja or for a guest. Some others believe that to kill one instead of many lives, to destroy that being which causes the death of others, to put an end to a life which is in a very miserable condition, to send one to समाधि, to kill a being that his soul may be set free, to offer one's flesh and blood to a hungry beast are not objectionable. But they are all fallacies of Ahimsa.

PAGE 141, LINE 10. Himsa is of two kinds, सांकल्पिकी and असांकल्पिकी. Committing himsa by mind, speech or body, or inducing others to do or approving the himsa done by others is said to be साकल्पिकी हिंसा।

PAGE 142, LINE 2, असांकल्पिकी is of three kinds:-आरंभजन्य, उद्योगजन्य and विरोधजन्य. Himsa caused in the performance of daily house-hold duties is called Arambhajanya, Himsa resulting from the carrying on of one's own profession

committed in protecting
... Virodhajanya.

The above four forms of himsa
...ene In the life of a मुनि or ascetic these
...re. A Muni regards all alike. There is no differ-
...or him between a friend and a foe or between praise
and abuse All his actions are permeated with Ahimsa.

PAGE 148, LINE 2, सम्यग्दर्शन or right belief should be free from pride due to caste etc

PAGE 154, LINE 3, निक्षेप is an aspect from which things are studied.

PAGE 156, LINE 4. निक्षेप is of four kinds-नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ।

नामनिक्षेप--the mere naming of a person even though he may not possess the qualities connected by the name e. g naming a man Mahavira even though he may have no bravery or वीरत्व in him. स्थापना निक्षेप-is the representation of one thing by another. It is of two kinds -तद्भव and अतद्भव The first is the representation of a person by his statue or picture The second is the representation by symbols or letters, e g X is equal to 100.

PAGE 159, LINE 9, द्रव्य निक्षेप is attributing to a person the qualities which he may possess only latter on e. g to call a Yuvaraja as Raja.

PAGE 160, LINE 3. It is of two kinds -आगमद्रव्यनिक्षेप and नो आगमद्रव्यनिक्षेप Agama Dravya Nikshepa e g. to call a

Raja as such though he may not be performing the duties of a Raja at that time.

PAGE 161, LINE 5 No-Agama Dravya Nikshepa is of three kinds ज्ञातृशरीरम्, भावि, तद्व्यतिरिक्त ।

Jnatri Sariram is to call the Rajas's body as the Raja.

Bhavi is to call a person a king even though he will be a king only in the future.

Tadvyatirikta is the determining cause of the पदार्थ ।

PAGE 163, LINE 9 Bhava Nikshepa giving a thing a name to connote the attributes of its present condition. It is also of two kinds. Agama-Bhava. Nikshepa, when the soul knows and is actually attentive No Agama Bhava Nikshepa, when the actual present condition of a thing is referred to, e. g. to call the present ruler a king.